Hindi Sri Bhasya

V. IX

श्रीमते रामानुजाय नमः ।। श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः

भगवत्पाद-श्री रामानुजाचार्य प्रणीत

।। हिन्दी श्रीभाष्य ।।

[नवम भाग]

सम्पादकः—
जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र



श्री रामनारायणाचार्यजी
महाराज

हिन्दी व्याख्याकार

श्री शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य)

साहित्य वेदान्ताचार्य; एम० ए० (द्वय)

वेदान्त विभागाध्यक्ष; श्रीहनुमत् स० म० विद्यालय

हनुमानगढ़ी, अयोध्या

प्रथमावृत्ति	मूल्य	शरद पूर्णिमा
१०००	४। रुपये	२०३५ विक्रमाब्द

डाक व्यय पृथक्

ॐ समर्पण ॐ

श्री १००८ श्रीमद् वेदमार्ग प्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य
सत्सम्प्रदायाचार्य श्रीपति पीठ षष्ठ सिंहासनाधिपति श्रीमत्परमहंस
परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय



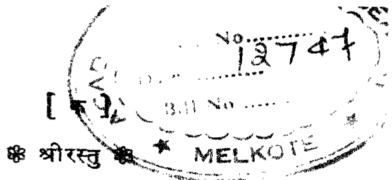
श्रीमद् विष्वक्सेनाचार्य श्री त्रिदण्डिस्वामिन्

परमाचार्य !

आपकी ही कृपा समृद्धि से समुद्भूत श्रीभाष्य खण्ड पुष्पों की महामाला के इस नवम पुष्प से २०३५ वर्षीय शरद पूर्णिमा के पावन पर्व पर श्रीमत्क श्रीचरणों को समलंकृत करने का साहस इस विश्वास मे कर रहा हूँ कि श्रीमान् अपनी वस्तु को इस नव परिवेश में प्रेक्षण जन्य अमन्दानन्द का अनुभव करेंगे।

श्रीमत्करदचरणरराग लिप्सु श्रीवराचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी
श्याम सदन कटरा, अयोध्या (उ० प्र०)

विषय—सूची



[क]

❀ श्रीरस्तु ❀

।। श्रीमते रामानुजाय नमः ।।

श्रीमद्वरवरमुनये नमः ।

श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ।

श्रीमदुभयवेदान्ताचार्यै र्न्यायव्याकरणशिरोमणिभि-र्विद्याभूषणैः तिरुनङ्गूर प्रतिवादिभयङ्कराण्णङ्गराचार्यस्वामिपादैः श्रीवृन्दावन श्री रङ्गमन्दिरास्थानविद्वद्भिरनुगृहीतं—

हिन्दीश्रीभाष्यप्रकाशनाभिनन्दनम्

श्रीभाष्यहिन्द्यनुवादं क्रमशः प्रकाश्यमानमवलोक्य मोमुद्यामहे। आगाष्टकं यावदद्य प्रकाशितं दृष्टिपथातिथी बभूवास्माकम। आशास्महे च नितरां यदेवमेवाग्रिमग्रन्थोऽयमचिरेण क्रमशः प्रकाशितो भूत्वा कार्त्स्न्येन सहृदयानां विद्वन्मणीनां हृदयान्यानन्द-रसभरितानि विदध्यादिति। यद्यपि सन्त्येव द्वित्राः श्री भाष्यस्य हिन्द्यनुवादाः प्रकाशिताः, तथापि तान् सर्वानतिशेते प्रकृतोऽयं हिन्दी श्रीभाष्यनामकः प्रबन्धः। यतोऽत्र श्रीभाष्य मूलग्रन्था-नुवादपूर्वकं तत्र तत्र विषमस्थले श्रीभाष्याशयाविष्करण चणं विवरणमपि श्रुतप्रकाशिकाधारेण कृतमस्ति श्रीमताऽनुवादकमहा-भागेन प्रकृतानुवादकरणसौभाग्यभाक् च सुगृहीतनामधेयः श्रीधरा-चार्यः साहित्य वेदान्ताचार्यः, एम. ए. द्वयपदवी विभूषितः, योऽयं श्रीमदयोध्यास्थ हनुमानगढ़ी श्रीहनुमत्संस्कृतमहाविद्यालय वेदान्त-

ि वमागाध्यक्षपदमलङ्कुर्वाणो दरीवर्ति । यद्यपि साहसमिदं कर्म, यत् श्रीभाष्ययथावस्थितार्थ वर्णनात्मकानुवादकरणम् । अल्पप्रज्ञैरल्प-सत्त्वैश्च दुःसाधमिदं सत्यम् । अथाऽपि स्वाचार्यचरणानां परमयोगि राजानां श्रीमज्जगद्गुरु श्रीमदनन्त पादीय श्रीविष्वक्सेनार्य यति परिवृढानां कृपाबलमेव मुख्यमुपकरणमवलम्ब्य प्रवर्तमानोऽय मनुवादकमहाशयोऽवश्यमेव समग्रमिदं महत् कार्यं संपाद्य कृत कृत्यो यशस्वी भवितेति विश्वसिमो वयम् ।

प्रकाशनस्यास्य सर्वप्रकारेण सहयोग प्रदातारश्च विराजन्ते श्रीमदयोध्या कटरास्थान स्थित श्रीकोसलेश सदनाध्यक्षाः त्रिदण्डि श्रीमद्विष्वक्सेनार्य यतिपरिवृढपरमकृपापात्रभूताः गृहीतपारम-हंस्याः उभयवेदान्तमर्मज्ञाः जगद्गुरुपदमलङ्कुर्वाणाः श्रीरामनारा-यणाचार्य यतिवराः श्रीमद्योगिराजकृपाबलं श्रीजगद्गुरुवर सह-योगं चावलम्ब्य प्रवर्तमानमिदं प्रकाशनमचिरेण परिपूर्णं भूयादि-त्याशास्महे ॥ संयोजयामश्च शुभाशीर्भिः अनुवादक महाशयमेन मेवमेव श्रीसम्प्रदायप्रवर्तन प्रसारण कैङ्कर्योपयुक्तं निरवधिक श्रीसम्पत्समृद्धियुक्तो भूयादिति अनुवादक महाशयश्चायं सत्यं धन्य वादार्हः । प्रकाशनमेतद्विराजतामिति च हार्दिकमस्माक मभि-नन्दनम् ॥ ॥ इति श्रीः ॥

श्री वैष्णवदासः विद्याभूषणं तिरुनांगूर प्र० भ० अण्णङ्गराचार्यः, श्रीसंवत् २०३५ श्रीरङ्गमन्दिरास्थानविद्वान्, वृन्दावनम् ।

—:❀:—

* उपयुक्त चर्चा *



श्रीमाठ्यारण्यपुण्ये नहि भवति गतिस्सागतानां जनानाम्;
दोषाणामाकरोऽहमिति मननपरो निश्शरण्योह्यपश्यन्
श्रीभाष्ये स्वं प्रवेशं निजपरमगुरोर्विष्णवगार्यस्य सूरेः,
पादाब्जां निस्सृतेषु प्रखरकिरणपुञ्जेषु पश्यामि मार्गम्।

हिन्दी श्रीभाष्य का प्रस्तुत भाग आकाशाधिकरण से प्रारम्भ हुआ है। उपनिषदों मे मोक्ष के साधनरूपसे बत्तीस विद्यायें बतलायी गयी हैं। हिन्दी श्रीभाष्य के माध्यम से अब तक तीन विद्याओं का विचार किया जा चुका है। सद्विद्या, आनन्दमयविद्या तथा अन्तरादित्य विद्या। इन तीनों विद्याओं में जड-जंगमात्मक सम्पूर्ण संसार के अभिन्न निमित्तकारणभूत परंब्रह्म का प्रतिपादन करके उसका प्रकृति तथा पुरुष से वैलक्षण्य बतलाया गया है। ईक्षत्यधिकरण में परमब्रह्म को जगत् का कारण बतलाकर उसकी प्रकृति से विलक्षणता बतलायी गयी है। आनन्दमयाधिकरण में आनन्दसीमाभूमि रूप से तथा अनन्दाधिकरण जीवात्मा का भी नियामकरूप से परमात्मा को बतलाकर उसकी चेतन सामान्य से भिन्नता बतलायी गयी है। अन्तराधिकरण में बतलाया गया है कि छान्दोग्योपनिषद् के अन्तरादित्य विद्या में आदित्य मण्डल के भीतर उपास्य रूप से जो रक्ताम्भोजदलामलायतेक्षण पुरुष बतलाया गया है, वह कोई

देवादिजीव विशेष न होकर आदित्य का भी नियामक तदात्मा-भूत परमात्मा ही है।

इस तरह जिज्ञासाधिकरण में 'सदेव सोम्येदमग्रासीत्' 'आत्मा वा इदम्' 'ब्रह्म वा इदम्' 'यतो वा इमानि भूतानि' प्रभृति पुरोवाद अनुवाद वाक्यों में बतलाये गये सद् ब्रह्म आदि सामान्य शब्दों के द्वारा किसी एक ही अभिन्न निमित्तोपादान-भूत वस्तु को जिज्ञास्य बतलाया गया है। इसके पश्चात् ईक्षत्य-धिकरण से लेकर अन्तराधिकरण पर्यन्त परमात्मा के जगत् की सृष्टि, पालन, एवं उपसंहार रूप क्रियाओं के अनुकूल सर्व-ज्ञत्व, सर्ववेतृत्व. जगन्मूलत्व प्रभृति गुणों को दृष्टि पथ में रख कर उसको क्रमशः तीनों अधिकरणों में प्रधान, सामान्यचेतन एवं चेतन विशेष से भिन्नता बतलायी गयी है। पुनः इस पाद के शेष अधिकरणों के माध्यम से कारण प्रकरण में कारण रूप से बतलाये गये आकाश, प्राण ज्योति आदि शब्दों के विषयों में प्रमाण प्रमेयाभ्युपगमवादी पूर्वपक्षियों की शंका का खण्डन करते हुये श्रीभाष्यकार भगवान् रामानुजाचार्य बतलाये है कि कारण प्रकरण का आकाश शब्द प्रसिद्ध भूताकाश का वाचक न होकर सर्वतः प्रकाशमान तथा प्रसिद्धाकाश के भी नियामक परमात्मा का वाचक है। इसी तरह ज्योति पद परमज्योतिभूत परमात्मा का तथा प्राण शब्द प्राणों के भी प्राण परमात्मा का वाचक है। वस्तुतः कलेवर की दृष्टि से अत्यन्त छोटा होता हुआ भी यह आकाशाधिकरण इस अध्याय का वह संगमस्थल है जहाँ से परमात्मा के दिव्यकल्याण गुणों का प्रतिपादन पुरस्सर

महर्षि बादरायण के हृदयाभिप्राय वेत्ता भगवान् रामानुजाचार्य अस्पष्टतर, अस्पष्ट एवं स्पष्ट जीव लिङ्गक वेदान्त वाक्यों के विषय में प्रमाणों तथा प्रमेयों को स्वीकार करने वाले पूर्वपक्षियों से लेकर सर्व शून्यवादी पर्यन्त पूर्ववादियों की शंका का निरास करके औपनिषद् सिद्धान्त का सम्यक समर्थन करते है।

छान्दोग्योपनिषद् की 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' इत्यादि वाक्य में आये हुए आकाश शब्द के विषय में यह शंका होती है कि यह आकाश शब्द पञ्चभूतों में अन्यतम प्रसिद्ध आकाश का का वाचक है अथवा परमात्मा का ? पूर्वपक्षी का कहना है कि यहाँ पर आकाश शब्द भूताकाश का ही वाचक है। क्योंकि तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार आकाश का कोई जनक नहीं है। तैत्तिरीय श्रुति कहती है कि "आत्मनः आकाशः सम्भूतः' आत्मनः अर्थात् अपने से ही आकाशः सम्भूतः— आकाश उत्पन्न हुआ। अतएव आकाश का कोई दूसरा जनक नहीं है। चूंकि जिसका कोई जनक नहीं होता वह सबों का जनक होता है, ब्रह्म को कारण मानने वाले भी ब्रह्म को कारण इसीलिए मानते हैं कि ब्रह्म का कोई जनक नहीं है।

इसका उत्तर श्रीभाष्यकार भगवान् रामानुजाचार्य ने दिया है कि प्रसिद्धाकाश सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति एवं विलय का कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि उक्त श्रुति का "सर्वाणि

देवादिजीव विशेष न होकर आदित्य का भी नियामक तदात्मा-भूत परमात्मा ही है ।

इस तरह जिज्ञासाधिकरण में 'सदेव सोम्येदमग्रासीत्' 'आत्मा वा इदम्' 'ब्रह्म वा इदम्' 'यतो वा इमानि भूतानि' प्रभृति पुरोवाद अनुवाद वाक्यों में बतलाये गये सद् ब्रह्म आदि सामान्य शब्दों के द्वारा किसी एक ही अभिन्न निमित्तोपादान-भूत वस्तु को जिज्ञास्य बतलाया गया है । इसके पश्चात् इक्षत्य-धिकरण से लेकर अन्तराधिकरण पर्यन्त परमात्मा के जगत् की सृष्टि, पालन, एवं उपसंहार रूप क्रियाओं के अनुकूल सर्वज्ञत्व, सर्वेवेतृत्व. जगन्मूलत्व प्रभृति गुणों को दृष्टि पथ में रख कर उसको क्रमशः तीनों अधिकरणों में प्रधान, सामान्यचेतन एवं चेतन विशेष से भिन्नता वतलायी गयी है । पुनः इस पाद के शेष अधिकरणों के माध्यम से कारण प्रकरण में कारण रूप से बतलाये गये आकाश, प्राण ज्योति आदि शब्दों के विषयों में प्रमाण प्रमेयाभ्युपगमवादी पूर्वपक्षियों की शंका का खण्डन करते हुये श्रीभाष्यकार भगवान् रामानुजाचार्य बतलाये है कि कारण प्रकरण का आकाश शब्द प्रसिद्ध भूताकाश का वाचक न होकर सर्वतः प्रकाशमान तथा प्रसिद्धाकाश के भी नियामक परमात्मा का वाचक है । इसी तरह ज्योति पद परमज्योतिभूत परमात्मा का तथा प्राण शब्द प्राणों के भी प्राण परमात्मा का वाचक है । वस्तुतः कलेवर की दृष्टि से अत्यन्त छोटा होता हुआ भी यह आकाशाधिकरण इस अध्याय का वह संगमस्थल है जहाँ से परमात्मा के दिव्यकल्याण गुणों का प्रतिपादन पुरस्सर

महर्षि बादरायण के हृदयाभिप्राय वेत्ता भगवान् रामानुजाचार्य अस्पष्टतर, अस्पष्ट एवं स्पष्ट जीव लिङ्गक वेदान्त वाक्यों के विषय में प्रमाणों तथा प्रमेयों को स्वीकार करने वाले पूर्व-पक्षियों से लेकर सर्व शून्यवादी पर्यन्त पूर्वपक्षियों की शंका का निरास करके औपनिषद सिद्धान्त का सम्यक समर्थन करते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् की 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' इत्यादि वाक्य में आये हुए आकाश शब्द के विषय में यह शंका होती है कि यह आकाश शब्द पञ्चभूतों में अन्यतम प्रसिद्ध आकाश का का वाचक है अथवा परमात्मा का ? पूर्वपक्षी का कहना है कि यहाँ पर आकाश शब्द भूताकाश का ही वाचक है। क्योंकि तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार आकाश का कोई जनक नहीं है। तैत्तिरीय श्रुति कहती है कि 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' आत्मनः अर्थात् अपने से ही आकाशः सम्भूतः— आकाश उत्पन्न हुआ। अतएव आकाश का कोई दूसरा जनक नहीं है। चूंकि जिसका कोई जनक नहीं होता वह सबका जनक होता है, ब्रह्म को कारण मानने वाले भी ब्रह्म को कारण इसीलिए मानते हैं कि ब्रह्म का कोई जनक नहीं है।

इसका उत्तर श्रीभाष्यकार भगवान् रामानुजाचार्य ने दिया है कि प्रसिद्धाकाश सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति एवं विलय का कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि उक्त श्रुति का 'सर्वाणि

ह वा इमानि' अंश का 'ह वा' पद प्रसिद्धवत् निर्देश अन्यत्र सिद्ध का अनुवाद द्योतित करता है । और अन्यत्र सत्, आत्मा, ब्रह्म आदि शब्दों से नारायण को ही जगत् का कारण बतलाया गया है, अतएव यहाँ भी (आङ् समन्तात् काशते—प्रकाशते इस व्युत्पत्ति के अनुसार आकाश शब्द जगत् प्रकाशक नारायण को ही बतलाता है । किञ्च इस श्रुति के ही प्रसङ्ग में नारायण को परायण बतलाया गया है । किन्तु कोई अचेतन परम प्राप्य नहीं होता, यह आत्म तत्त्व के जानकारों का कहना है । किञ्च 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्यादि वाक्य का आत्मा शब्द स्व का वाचक न होकर परमात्मा का ही वाचक है, क्योंकि उस आकाश का कर्ता ही 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इस श्रुति में विपश्चित् शब्द से अभिहित किया जाता है । 'विविधं पश्यच् चित्तं यस्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विपश्चित् सर्वज्ञ परमात्मा ही हो सकता है ।

छान्दोग्योपनिषद् के उपस्ति ब्राह्मण प्रकरण में 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते' इत्यादि श्रुति में सभी भूतों का कारण प्राण को बतलाया गया है । यहां पर पूर्वपक्षी का कहना है कि हम सबों के देह इन्द्रियादिक की प्रवृत्ति चूंकि प्राण के ही अधीन देखी जाती है । अतएव प्राण के ही सबो का नियामक होने से उसको ही जगत् का कारण मान लेना चाहिए । श्री भाष्यकार स्वामी जी कहते हैं कि काष्ठ शिला वृक्ष आदि में प्राण वृत्ति का अभाव रहने पर

भी वे बने रहते हैं, अतएव प्राणाधीन जगत् की प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती है। किञ्च— 'ह वा' इस शब्द का प्रयोग उक्त श्रुति को अन्यत्र सिद्ध अर्थ का अनुवादक बतलाता है। किञ्च 'प्राणस्य प्राणः' इत्यादि श्रुतियों में नारायण को ही प्राणों का भी नियामक बतलाया गया है। अतएव प्राणाधिकरण प्रतिपाद्य भी नारायण ही हैं।

ज्योति अधिकरणके विषय वाक्यको उपस्थित करते हुए बतलाया गया है कि— 'अथ यदतः परो दिवो ज्यति दीप्यते' इस वाक्य के ज्योति शब्द की 'इदं वाव तद् यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषो ज्योतिः' इस वाक्य के जाठरानल के साथ एकता बतलाकर उसको जगत् का उपादान कारण बतलाया गया है। यहाँ पर पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रसिद्धि के अनुसार ज्योति शब्द को अग्नि का ही वाचक मानना चाहिए किन्तु इसका खण्डन करते हुए भगवान् रामानुजाचार्य कहते हैं कि इस विद्या के उपक्रम में ही पुरुष सूक्त में वर्णित परमात्मा की प्रत्यभिज्ञा 'एतावानस्य महिमा। ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि। त्रिपादस्यामृतं दिवि।' इस श्रुति द्वारा होती है। किञ्च इसी विद्या के प्रकरण में ज्योति शब्द वाच्य को पादसाम्य के कारण गायत्री शब्द से अभिहित किया है। जिस तरह गायत्री के चार पाद होते हैं उसी तरह परमात्मा की भी महिमा के चार पाद पुरुष सूक्त तथा इस विद्या में वर्णित हैं— भूतादि शब्दित आत्म वर्ग परमात्मा का पहला पाद है। भोग स्थान रूप से अर्जित पृथिवी

लौकिक परमात्मा का दूसरा पाद है। हृदयाकाश रूपी प्रदेश विशेष परमात्मा का तृतीय पाद है और भोगोपकरण रूप शरीर चौथा पाद है।

कौषितकि ब्राह्मण की प्रतर्दन विद्या में बतलाया गया है कि अपने पराक्रम में प्रख्यात दिवोदास का पुत्र एक बार स्वर्ग में गया। वहाँ पर प्रसन्न इन्द्र ने कहा आप मुझसे वरदान मांग लें। यह सुनकर प्रतर्दन ने कहा आप स्वयं मेरे लिए उस वरदान का चयन करें जिसे आप मानव जाति भर के लिए सर्वाधिक हितकारी मानते हों। इस पर इन्द्र ने कहा– मैंने त्वष्टा के पुत्र त्रिशिरा का वध किया। मैंने ही कुमार्गगामी सन्यासियों को भेड़ियों को खाने के लिए डाल दिया। मैं प्राण और प्रज्ञात्मा हूँ। अतएव आप मेरी आयु और अमृत रूप से उपासना करो। यहां पर पूर्वपक्षी का कहना है कि इस विद्या का इन्द्र शब्द जीव विशेष का वाचक है। क्योंकि इन्द्र के द्वारा त्रिशिरा नामक असुर का वध प्रसिद्ध है। इस पर श्रीभाष्यकार स्वामीजी कहते हैं कि नहीं यह इन्द्र शब्द भी परमैश्वर्य सम्पन्न परमात्मा का ही वाचक है, जीव विशेष मात्र का नहीं।

यदि कोई कहे कि इन्द्र शब्द को परमात्मा मात्र का वाचक मानने पर उसका त्वाष्ट्रवधादि लिङ्ग से विरोध होगा तो इसका उत्तर है कि परमात्मा की तीन प्रकार की उपासना प्रसिद्ध है—जीव शरीरक, जड़ शरीरक तथा स्वरूपतः। प्रसिद्ध इन्द्रादि भी परमात्मा के शरीर ही हैं इस अर्थ को बतलाने के

लिए उक्त श्रुति में त्वाष्ट्र वधादि लिंग का निर्देश किया गया है। किञ्च हिततम रूप से उपास्यता परमात्मा में ही है। अतएव इन्द्र शब्द वाच्य परमात्मा ही है।

चूंकि जिज्ञासाधिकरण से लेकर समन्वयाधिकरण पर्यन्त चार अधिकरण शास्त्रारम्भ समर्थनार्थ उपक्रान्त हैं। अतएव ईक्षत्यधिकरणसे लेकर इन्द्र प्राणाधिकरण पर्यन्त ब्रह्म सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के सात अधिकरण में ये अर्थ प्रतिपादित हैं। ईक्षत्यधिकरण में प्रधान के जगत् कारणत्व का खंडन करके परमात्मा के अभिन्न निमित्तोपादान कारणत्वका मंडन किया गया है। आनन्दमयाधिकरण में परमात्मा को अखिल कल्याण गुण गण सीमा भूमि बतलाया गया है। अन्तराधिकरण में बतलाया गया है कि आदित्य मण्डल के उपास्य रक्ताम्भोजदलामलायतेक्षण परं ब्रह्म नारायण ही हैं। आकाशते आकाशयति वा इस व्युत्पत्ति के अनुसार आकाशाधिकरण में परमात्मा को स्वभावत: सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक बतलाया गया है। श्रुति भी कहती है—'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भास सर्वमिदं विभाति।' प्राणाधिकरण का प्रतिपाद्य विषय है कि देवतिर्यक् मनुष्यादि भेदों वाले जगत की प्राणन रूपी सत्ता का भी कारण परमात्मा ही हैं, अतएव उसे 'प्राणस्य प्राणः' कहा जाता है। ज्योति अधिकरणके अर्थका संक्षेप करते हुए श्रीवेदान्तदेशिक कहते हैं— 'दिव्य दीप्तिः' (अ० सा० ७८) अर्थ

परमात्मा के शरीर की दिव्य ज्योति ही सभी लोकों को प्रकाशित करती है । इदि परमैश्वर्ये धातु से 'ऋजेन्द्राग्रवज्र–विप्र कुब्र–चुब्र–क्षुर–खुर–भद्रोग्रभेल शुक्र शुक्ल गौरवन्नेरामला:' इस औणादिक सूत्र से रन् प्रत्यय होकर निपातनात् सिद्ध होने वाला इन्द्रप्राणाधिकरण का इन्द्र शब्द परमैश्वर्य सम्पन्न परमात्मा को ही बतलाता है ।

यद्यपि इसी खण्ड में सर्वत्र प्रसिद्धाधिकरण और अत्रधिकरण भी आगये हैं किन्तु उन दोनों अधिकरण के संक्षितार्थ की चर्चा अगले खण्ड में की जायेगी ।

हम अपने पाठकों के अत्यन्त आभारी हैं कि वे अपनी वात्सल्य पूर्ण दृष्टि से मेरी कमियों पर विचार किये विना भी प्रेम पूर्वक हिन्दी श्रीभाष्य के भागों को अपना रहे हैं ।

भागवतों का विधेय—
श्रीधराचार्य



॥ श्रीः ॥

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

॥ श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः ॥

हिन्दी श्रीभाष्य

(नवम भाग)

श्रीवत्सचिह्नमिश्रेभ्यो नम उक्तिमधीमहे ।
यदुक्तयस्त्रयीकण्ठे यान्ति मंगलसूत्रताम् ॥

* आकाशाधिकरण का प्रारम्भ *

मू०'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति जगत्कारणं ब्रह्मेत्यवगम्यते । किं तज्जगत्कारणमित्यपेक्षायां सदेव सोम्येदमग्र आसीत् तत्तेजोऽसृजत' आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् (ऐतरेय १-१-१) स इमाँल्लोकानसृजत (ऐतरेय १-१-२) तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः इति साधारणैः शब्दैर्जगत्कारणे निर्दिष्टे ईक्षणविशेषानन्दविशेषरूपदिशेषार्थस्वभावात्प्रधानक्षेत्रज्ञादिव्यतिरिक्तं ब्रह्मेत्युक्तम् । इदानीमाकाशादिविशेषशब्दैर्निर्दिश्य जगत्कारणत्वजगदैश्वर्यादिवादेऽप्याकाशादिशब्दाभिधेयतया प्रसिद्धचिदचिद्वस्तुनोऽर्थान्तरमुक्त लक्षणमेव ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते—आकाशस्तल्लिङ्गादित्यादिना पादशेषेण—

अनु०–' जिससे ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं ।' यह श्रुति बतलाती है कि जगत् का कारण भूत ब्रह्म ही हैं । उस जगत् का कारण क्या है ? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर 'हे सोमरस पानार्ह श्वेतकेतो ! यह सम्पूर्ण जगत् सृष्टि से पूर्व सद्रूप ही था ।' 'उसने तेज की सृष्टि की ।' 'निश्चित यही सृष्टि से पूर्व केवल आत्मा ही था ।' 'उसने लोकों की सृष्टि की' 'निश्चय ही उस प्रसिद्ध आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ ।' इन सभी साधारण शब्दों के द्वारा जगत् के कारण तत्त्व का निर्देश किये जाने पर ईक्षण व्यापार विशिष्ट आनन्द विशिष्ट तथा रूप विशिष्ट विषय का स्वभाव होने के कारण वह ब्रह्म तत्त्व प्रधान (प्रकृति) तथा जीव आदि से भिन्न है— यह बतलाया गया है प्रस्तुत अधिकरण में आकाश आदि विशेष वाचक शब्दों के द्वारा उस परमात्मा का निर्देश करके उसके जगत कारणत्व तथा जगत को उसका ऐश्वर्य मानने वालों के मत में भी आकाश आदि शब्दों के द्वारा कहे जाने के कारण प्रसिद्ध जड़ एवं चेतन से भिन्न उपर्युक्त लक्षणों वाला ही ब्रह्म है—यह इस पाद के शेष अधिकरणों एवं सूत्रों द्वारा बतलाया जाता है । वे सूत्र 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यादि है ।

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २३ ॥

इदमाम्नायते छान्दोग्ये " अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति आकाशो ह्येवैभ्यो भूतेभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ' इति । तत्र सन्देह; किं प्रसिद्धाकाश एवात्राकाशशब्देनाभिधीयते; उतोक्तलक्षणमेव ब्रह्म ? इति । किं प्राप्तम् ? प्रसिद्धाकाश इति । कुतः ? शब्दैकसमधिगम्ये वस्तुनि य एवार्थो व्युत्पत्तिसिद्धः शब्देन प्रतीयते स एव ग्रहीतव्यः अतः प्रसिद्धाकाश एव चराचरभूतजातस्य कृत्स्नस्य कारणम्, अतस्तस्मादनतिरिक्तं ब्रह्म । नन्वीक्षापूर्वकसृष्ट्यादिभिरचेतनाज्जीवाच्च व्यतिरिक्तं ब्रह्मेत्युक्तम् । सत्यमुक्तम् । अयुक्तं तु तत् । तथा हि, —' यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते—तद्ब्रह्म (तै: आन १) इत्युक्ते कुत इमानि भूतानि जायन्त इत्यादिविशेषापेक्षायां " सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते " (छा० १-९-१) इत्यादिना विशेषप्रतीतेर्जगज्जन्मादिकारणमाकाश

एवेति निश्चिते सति 'सदेव सोम्येदमग्र असीत्' (छा० ६-२-१) इत्यादिष्वपिसदादिशब्दास्साधारणाकारास्त-मेव विशेषमाकाशमभिदधति 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्यादिष्वात्मशब्दोऽपि तत्रैव वर्त्तते। तस्यापि हि चेतनैकान्तत्वं न सम्भवति, यथा। मृदात्मको घटः इति। आप्नोतीत्यात्मेति व्युत्पत्त्या सुतरामाकाशेऽप्यात्म-शब्दो वर्तते। अत एवमाकाश एव कारणं इति निश्चिते सतीक्षणादयस्तदनुगुणा गौणा वर्णनीयाः। यदि हि साधारणशब्दैरेव सदादिभिः कारणमभ्यधायि ष्यतः ईक्षणाद्यर्थानुरोधेन चेतनविशेष एव कारणमिति निरचेष्यत। आकाशशब्देन तु विशेष एव निश्चित इति नार्थस्वाभाव्यान्निर्णेतव्यमस्ति।

अनु०—आकाश शब्द से पूर्वोक्त स्वभाव वाला परमात्मा ही कहा गया है। क्योंकि श्रुतियाँ उसका आकाश शब्दाभिधेय का जगत् कारण एवं सर्वश्रेष्ठ रूप से वर्णन करती हैं। यह सूत्रार्थ हुआ।

छान्दोग्योपनिषद् में यह आम्नान किया गया है— इस लोक की गति (प्राप्य) क्या है? (इसके उत्तर में आचार्य) कहा आकाश ही है। निश्चय ही ये सभी भूत आकाश से

ही समुत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन हो जाते हैं। आकाश ही इन सभी भूतों से महान् है और उनका एक मात्र आश्रय है। श्रुति के विषय में संदेह होता है कि क्या प्रसिद्ध आकाश ही यहाँ पर आकाश शब्द से कहा गया है? अथवा पूर्वोक्त स्वरूप वाला ब्रह्म ही? क्या मानना चाहिये? इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रसिद्ध आकाश ही यहाँ पर वर्णित है। जिसे केवल शास्त्र के द्वारा ही जाना जा सके ऐसी वस्तु के विषय में शब्द की व्युत्पत्ति के द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसी को स्वीकार करना चाहिए। अतएव प्रसिद्ध आकाश ही सम्पूर्ण जड़ जंगम भूतों का कारण है। अतएव ब्रह्म भी उस प्रसिद्ध आकाश से अभिन्न ही है।

अब प्रश्न यह उठता है कि सृष्टि वाक्यों में ईक्षण पूर्वक सृष्टि सुनी जाती है। अतएव ब्रह्म अचेतन प्रकृति तथा जीवों से भिन्न सिद्ध होता है। तो श्रुतियों में तो ठीक ही कहा गया है किन्तु आप जैसा कहते हैं वैसे मानना ठीक नहीं। क्योंकि– 'निश्चय ही जिससे सभी भूत उत्पन्न होते हैं — वही ब्रह्म है' यह कहने पर, कहाँ से ये भूत उत्पन्न होते हैं? इस प्रकार की विशेष आकांक्षा होने पर कि ये सभी भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं' इत्यादि वाक्य के द्वारा जिस विशेष (आकाश की प्रतीत होने से जगत् के जन्म आदि का कारण आकाश ही है यह निश्चय होने पर – 'हे सोमरस पानाह श्वेतकेतो, सृष्टि से

पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् सद्रूप ही था ? इत्यादि श्रुतियों में सद् आदि शब्दों से कहे जाने वाले साधारण आकार वाले [उसी आकाश विशेष को बतलाते हैं । 'निश्चय ही सृष्टि से पूर्व अकेला आत्मा ही था ।' इस श्रुति का आत्मा शब्द भी उसी को बतलाता है । वह भी केवल चेतन ही उसी तरह नहीं हो सकता जैसे घट मृदात्मक ही नहीं होता है । क्योंकि 'आप्नोति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो प्राप्त करे वही आत्मा कहा जा सकता है । अतएव इस व्युत्पत्ति के अनुसार आकाश भी आत्मा शब्द से कहा जा सकता हैं । इसलिए आकाश ही जगत् का कारण है, वही ब्रह्म शब्द से कहा जाता है, यह निश्चित हो जाने पर उसके अनुकूल ईक्षण आदि व्यापार को गौण मानना चाहिये । क्योंकि साधारण सत् आदि शब्दों के ही द्वारा कारण तत्त्व बतलाया जाता है । तब ही ईक्षण आदि व्यापारों के अनुकूल चेतन विशेष को ही कारण रूप से निश्चित किया जाता है । आकाश शब्द के द्वारा तो कारण विशेष निश्चित होता है इसलिये विषय के स्वभाव भूत ईक्षणादि व्यापार के अनुसार हीं निर्णय करना चाहिये ।

मूल—ननु 'आत्मनः आकाशःसम्भूतः' इत्याकाशस्यापि कार्य्यत्वं प्रतीयते । सत्यम् । सर्वेषामेवाकाशवाय्वादीनां सूक्ष्मावस्था स्थूलावस्था चेत्यवस्थाद्वयमस्ति । तत्राकाशस्य सूक्ष्मावस्था कारणम् स्थूलावस्थातु कार्यम् । आत्मन आकाश-

स्वसम्भूतः इति स्वस्मादेव सूक्ष्म रूपात्स्वयं स्थूलरुपः सम्भूत इत्यर्थः। सर्वाणि ह्वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इति सर्वस्य जगतः आकाशादेव प्रभवाप्ययादि श्रवणात्तदेव हि कारणं ब्रह्मेति निश्चितम्। यत एवं प्रसिद्धाकाशादनतिरिक्तं ब्रह्म; अतएव यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् आकाशो ह्वै नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्येवमादिनिर्देशोऽप्युपपन्नतरः। अतः प्रसिद्धाकाशादनतिरिक्तं ब्रह्मेति।

यदि यहां पर कोई प्रश्न यह करे कि उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' इस तरह आकाश भी आत्मा का कार्य प्रतीत होता है तो यह कहना अर्द्ध उचित है। क्योंकि सभी आकाश वायु आदि की दो अवस्थायें होती हैं, सूक्ष्मावस्था और स्थूलावस्था। तो आकाश की जो सूक्ष्मावस्था है वही कारण है और जो स्थूलावस्था है वही कार्य है। इस तरह 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' श्रुति का अर्थ है कि आकाश अपने सूक्ष्मावस्था रूप कारण से स्थूलावस्था रूप कार्यरूप से उत्पन्न हुआ। 'निश्चय ही सभी भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं।' इस श्रुति में सभी भूतों की उत्पत्ति और उनका लय आकाश से ही सुना जाता है। अतएव आकाश ही उनका कारण है, और वही ब्रह्म शब्द से अभिहित किया जाता है। चूंकि इस तरह प्रसिद्ध

आकाश से अभिन्न ही ब्रह्म है, अतएव ही 'यह जो आनन्द स्वरूप आकाश नहीं होता' 'आकाश ही नाम और रूप का निर्वाहक है' प्रभृति श्रुति निर्देश भी सिद्ध होते हैं। अतएव ब्रह्म इस प्रसिद्ध आकाश से अभिन्न ही है।

सिद्धान्त

मूल—एवं प्राप्ते ब्रूमः— 'आकाशस्तल्लिङ्गात्'। आकाशशब्दाभिधेयः प्रसिद्धाकाशादचेतनादर्थान्तरभूतो यथोक्तलक्षणः परमात्मैव। कुतः? तल्लिङ्गात् निखिलजगदेककारणत्वं सर्वस्माज्ज्यायस्त्वं परायणत्वमित्यादीनि परमात्मलिङ्गान्युपलभ्यन्ते। निखिलकारणत्वं ह्यचिद्वस्तुनः प्रसिद्धाकाशशब्दाभिधेयस्य नोपपद्यते चेतनवस्तुनस्तत्कार्य्यत्वासम्भवात्। परायणत्वं च चेतनानां परमप्राप्यत्वम्। तच्चाचेतनस्य हेयस्य सकलपुरुषार्थविरोधिनो न सम्भवति। सर्वस्माज्ज्यायस्त्वं च निरुपाधिकं सर्वैः कल्याणगुणैः सर्वेभ्यो निरतिशयोत्कर्षः। तदप्यचितो नोपपद्यते।

उपर्युक्त प्रकार का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सिद्धान्ती का कहना है कि 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' अर्थात् आकाश शब्द से

कहे जाने वाले, अचेतन प्रसिद्ध आकाश से भिन्न उपर्युक्त धर्म विशिष्ट परमात्मा ही है, क्योंकि, तल्लिङ्गात् = क्योंकि— सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र कारणत्व, सबों से महान होना तथा सबों का एकमात्र आश्रय होना प्रभृति गुण परमात्मा के ही चिह्न रूप से उपलब्ध होते हैं। सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र कारण प्रसिद्ध जड़ आकाश नहीं हो सकता है क्योंकि जड़ वस्तु का कार्य चेतन नहीं हो सकता है। परायण तो वही हो सकता है जो जीवों का सर्वश्रेष्ठ प्राप्य हो। अतएव वह (परायण) अचेतन और त्याज्य तथा सभी पुरुषार्थ के विरोधी होने के कारण प्रसिद्ध आकाश नहीं हो सकता। ब्रह्म की सर्वोत्कृष्टता ही स्वाभाविक रूप से सभी कल्याण करने वाले गुणों के द्वारा सबों से सर्वोत्कृष्ट होने को कहते हैं अतएव आकाश सबों से से महान नहीं सिद्ध हो सकता है।

मूल-यदुक्तं जगत्कारणविशेषाकाङ्क्षायामाकाशशब्देन विशेष समर्पणादन्यत्सर्वं तदनुरूपमेव वर्णनीयमिति। तदयुक्तम् 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इति प्रसिद्ध वन्निर्देशात्। प्रसिद्धवन्निर्देशो हि प्रमाणा-न्तरप्राप्तिमपेक्षते। प्रमाणान्तराणि च 'सदेव सोम्येद-मग्र आसीत्' इत्येवमादीन्येव वाक्यानि। तानि च यथो-दितप्रकारेणैव ब्रह्म प्रतिपादयन्तीति तत्प्रतिपादितं ब्रह्म

आकाशशब्देन प्रसिद्धवन्निर्दिश्यते । सम्भवति च परस्य ब्रह्मण प्रकाशकत्वादाकाशशब्दाभिधेयत्वम् । आकाशते आकाशयति चेति । किञ्च अनेनाकाशशब्देन विशेष-समर्पणाक्षमेणापि चेतनांशं प्रत्यसम्भावितकारणभाव चेतन विशेषमभिदधानेन' तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय सोऽकामयत । बहुस्यां इत्यादि वाक्यशेषावधारितसार्व-ज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वादिविशिष्टापूर्वार्थं प्रतिपादनसमर्थवा-क्यार्थान्यथाकरणं न प्रमाणपदवीमधिरोहति । एवम पूर्वानत विशेषण विशिष्टापूर्वार्थं प्रतिपादन समर्थानेक वाक्यगत सामान्यं चैकेनानुवादस्वरूपेणान्यथाकर्तुं न शक्यते ।

अनु०—पूर्व पक्षी ने यह जो कहा है कि जगत् के कारण विशेष को जानने की इच्छा होने पर आकाश शब्द के द्वारा उसे कारण विशेष का ज्ञान हो जाने से अन्य सभी साधारण शब्दों का उसके अनुकूल ही अर्थ का वर्णन करना चाहिये । तो पूर्व पक्षी का यह कहना ठीक नहीं है । निश्चत ही सभी भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं' इस श्रुति में प्रसिद्धवत् निर्देश किया गया है । और प्रसिद्धवत् निर्देश उसी वस्तु का होता है जिसका ज्ञान किसी दूसरे प्रमाण के द्वारा हो चुका रहता है । अब प्रश्न यह उठता है कि वे दूसरे प्रमाण कौन

है। तो 'सदेवसोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि वाक्य ही वे दूसरे प्रमाण हैं। और वे वाक्य ब्रह्म का उपर्युक्त गुण विशिष्ट रूप से ही प्रतिपादन करते हैं। इस तरह सिद्ध होता है कि उन सदेव आदि वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म का ही प्रतिपादन आकाश शब्द के द्वारा प्रसिद्धवत निर्देश पूर्वक किया गया है। और ब्रह्म को आकाश शब्द के द्वारा इसलिये भी कहा जा सकता है कि वह प्रकाशक है। अतएव 'आकाशते' अथवा 'आकाशयति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो सबों को सब तरह से प्रकाशित अर्थात् व्यवहार के योग्य बना दे, उसको आकाश कहते अथवा जो अपने लिए प्रकाशित हो उसको आकाश शब्द से कहा जा सकता है। ब्रह्म भी स्वेतर समस्त वस्तुओं को व्यवहार के योग्य बनाता हुआ अपने ही लिए प्रकाशित करता है अतएव वह ब्रह्म आकाश शब्दाभिधेय है।

दूसरी बात यह है कि इस अर्थ विशेष का समर्पण करने में समर्थ आकाश शब्द के द्वारा भी जोकि बतलाता है कि अचेतन विशेष चेतन का कारण नहीं बन सकता है— उस सत्‌शब्द वाच्य परं ब्रह्म ने ईक्षण रूप सत्य संकल्प किया कि मै एक से अनेक हो जाऊं' 'उसने कामना की, मैं अनेक हो जाऊं' इत्यादि वाक्य शेषों के द्वारा निश्चित किये गये सार्वज्ञ्य, सत्य संकल्पत्व आदि से विशिष्ट अज्ञान पूर्व अर्थ का प्रतिपादन करने में समक्ष वाक्यों के अर्थ का अन्यथाकरण अप्रामाणिक ही होगा। इससे

सिद्ध होता है कि अज्ञात पूर्व अनन्त विशेषणों से विशिष्ट अज्ञात पूर्ण अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ अनेक वाक्यों की गति सामान्य को किसी एक अनुवाद स्वरूप वाक्य के द्वारा अन्यथाकरण असम्भव है।

टिप्पणी—

प्रकाशकत्वादाकाशशब्दाभिधेयत्वम्— आकाशते आकाशयति चेति—

इस वाक्य का अभिप्राय है कि आकाश शब्द केवल सिद्ध जड़ आकाश का ही वाचक नहीं है। बल्कि उसकी 'आङ् समन्तात् काशते प्रकाशत इत्याकाशः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अपने लिए ही प्रकाशित होता हो उसे आकाश शब्द से अभिहित किया जाता है। तथा 'आङ् समन्तात् काशयति प्रकाशयति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अपने लिए ही स्वेतर समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करे उसे आकाश कहते हैं। परंब्रह्म समस्त वस्तुओं का नियामक, उपभोक्ता एवं प्रकाशक तथा स्वयं प्रकाश होने के कारण अपने स्वयं प्रकाशित होते हुए स्वेतर समस्त वस्तुओं का प्रकाशन कर स्वयं उनका प्रकाशन किया करता है। अतएव वह आकाश शब्दाभिधेय है।

१—यत्त्वात्मशब्दश्चेतनैकान्तो न भवति, मृदात्मको घटः, इत्यादिदर्शनादित्युक्तम्। तत्रोच्यते—यद्यपि चेतनादन्यत्रापि क्वाचिदात्मशब्दः प्रयुज्यते तथाऽपि शरीरप्रति

सम्बन्धिन्यात्मशब्दस्य प्रयोगप्राचुर्य्यात् आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । आत्मन आकाशः सम्भूतः । इत्यादिषु शरीरप्रतिसम्बन्धिचेतन एव प्रतीयते । यथा गोशब्द, स्यानेकार्थवाचित्वेऽपि प्रयोगप्राचुर्य्यात्सास्नानादिमानेव स्वतः प्रतीयते । अर्थान्तर प्रतीतिस्तु तत्तदसाधारणनिर्दे, शापेक्षा, यथा स्वतः प्राप्तं शरीरप्रतिसंवन्धिचेतनाभिधा- नमेव "स ईक्षत लोकानु सृजा इति' 'सोऽकामयत । वहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि तत्तद्वाक्य एव स्थिरीकु- र्वन्ति ।। एवं वाक्यशेषावधारितानन्यसाधारणानेकपूर्वा- र्थविशिष्टं निखिलजगदेककारणं 'सदेव सोम्य" इत्या, दिवाक्य सिद्धं ब्रह्मेवाकाशशब्देन प्रसिद्धवत् सर्वाणि ह वा इमाभूतान इत्यादिवाक्येननिर्दिश्यत इति सिद्धम् ।

अनु०-पूर्व पक्षी विद्वानों ने यह जो कहा है कि - आत्मा शब्द केवल चेतना का ही वाचक नहीं होता है । यह ठीक उसी तरह है जैसे - घट केवल मृद् द्रव्यात्मक ही हो ऐसी बात नहीं है, बल्कि स्वर्ण द्रव्यात्मक रजत द्रव्यात्मक आदि रूप से भी पाया जाता है । तो पूर्व पक्षी के इस कथन का उत्तर है कि—यद्यपि आत्मा शब्द का प्रयोग चेतन से भिन्न अर्थ 'में भी देखा जाता है - लेकिन देखा जाता है कि आत्मा शब्द का सर्वा-

धिक प्रयोग शारीर के ही अर्थ में देखा जाता है । क्योंकि देखा जाता है कि – निश्चय ही सृष्टि से पूर्व केवल आत्मा ही था । 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' इत्यादि श्रुतियों में आत्मा शब्द का प्रयोग शारीर चेतन के ही अर्थ में देखा जाता है । जैसे गो शब्द के अनेक अर्थों का वाचक होने पर भी उसके द्वारा स्वत सास्नादिमती व्यक्ति की ही प्रतीत होती है, क्योंकि उसका सास्नादि मान के ही अर्थ में अधिक प्रयोग देखा जाता है । दूसरी वस्तुओं की प्रतीति तो विभिन्न असधारण निर्देश के कारण होती है । इसी तरह स्वत आत्मा शब्द के द्वारा तो शरीरीका ही अभिधान होता है, इस अर्थ का निर्धारण —'उस सत् शब्द वाच्य परमात्मा ने सत्यसंकल्प किया, निश्चय ही मैं लोकों सृष्टि करूं' 'उसने सत्य संकल्प किया कि मै अनेक रूपों में परिणत होऊँ'—इन श्रुति वाक्यों के द्वारा होता है । इस तरह वाक्य शेष के द्वारा निश्चित किया गया असाधारण अनेक अपूर्व अर्थों से विशिष्ट सम्पूर्ण जगत के एक मात्र कारण—'सदेव सोम्यदेय' इत्यादि वाक्यों के द्वारा सिद्ध ब्रह्म का ही 'सर्वाणि हवा इमानि भूतानि' इत्यादि वाक्यस्थ आकाश शब्द के द्वारा प्रसिद्धवत् निर्देश किया गया है, यह सिद्ध होता है ।

इस तरह आकाशधिकरण समाप्त हुआ ।

प्राणाधिकरण का प्रारम्भ

सू०— अत एव प्राणः ॥ २४ ॥

इदमाम्नायते छान्दोग्ये-प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वा यता, (छा० १।११।४) इति प्रस्तुत्य 'कतमा सा देवतेति प्राणइतिहोवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवताप्रस्तावम न्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रास्तोष्यो मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत्" इति ।

अत्र प्राणशब्दोऽप्याकाशशब्दवत्प्रसिद्धप्राणव्यतिरिक्ते परस्मिन्नेव ब्रह्मणि वर्त्तते, तदसाधारणनिखिलजगत्प्रवेशनिष्क्रमणादिलिङ्गात्प्रसिद्धवन्निर्दिष्टात् । अधिका शङ्का तु कृत्स्नस्य भूतजातस्य प्राणाधीनस्थितिप्रवृत्त्यादिदर्शनात् प्रसिद्ध एव प्राणो जगत्कारणतया निर्देशमर्हतीति ॥

परिहारस्तु-शिलाकाष्ठादिषु चेतनस्वरूपे चतदभावात् "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसं, विशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते इति नोपपद्यत इति अतः प्राणयती सर्वाणी भूतानीति कृत्वा परं ब्रह्मेव प्राण, शब्देनाभिधीयते अतः प्रसिद्धाकाशप्राणादेरन्यदेव निखि; लजगदेककारणमपहतपाप्मत्वसार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वाद्यन , न्तकल्याणगुणगणं परं ब्रह्मैवाकाशप्राणादिशब्दाभिधेया,

निति सिद्धम् ॥ २४ ॥

अनु०– चूंकि आकाश शब्द वाक्य प्रसिद्ध आकाश नहीं है अतएव प्राण शब्द वाच्य प्रसिद्ध प्राण न होकर परमात्मा ही है। (यह सूत्रार्थ हुआ।)

छान्दोग्योपनिद् में बतलाया गया है कि – प्रस्तोतर्या देवता संबन्ध प्रस्ताव से है। इस तरह से प्रारम्भ करके वह कौन सी देवता है इस तरह के प्रस्तोता की जिज्ञासा को जान कर उपस्थित चाक्रायण ने उत्तर दिया –) वह देवता प्राण ही है। इन सभी भूतों का लय प्राणशब्दाभिधेय देवता में ही होता है और प्राण से ही ये निकलते (उत्पन्न होते) हैं। इस तरह सभी भूतों की उत्पत्ति एवं लयं स्थान रूप से प्रसिद्ध प्रा स्वरूप देवता का प्रस्ताव भक्ति में अध्याहार करके उपासना करनी चाहिए। यदि उस प्राणाख्य देवता का स्वरूप जाने विना तुम प्रस्ताव करोगे तो निश्चय ही तुम्हारा शिर टूट जायेगा अतएव तुम नष्ट हो जाओगे। इस श्रुति का प्राण शब्द भी आकाश शब्द के ही समान प्रसिद्ध प्राण से भिन्न परं ब्रह्म का ही वाचक है। क्योंकि यहा भी प्राण शब्द वाच्य के गुण केवल परमात्मा में हीं पाये जाने वाले सम्पूर्ण जगत् में व्यापक रूप से प्रवेश तथा उससे निष्क्रमण आदि ही का प्रसिद्ध के समान निर्देश किया गया है।

अब प्रश्न उठता है कि इस अर्थ का ज्ञान तो पूर्वोक्त सूत्र के द्वारा ही हो जाता है। फिर किस अधिक अर्थ को बतलाने

के लिए इस सूत्र का अतिदेश किया गया है ? तो इसका उत्तर है कि यहां पर यही अधिक शंका है कि देखा जाता है कि, सम्पूर्ण जगत की स्थिति एवं प्रवृत्ति प्राणों के ही अधीन होती है अतएव प्रसिद्ध प्राण का ही जगत् के कारण रूप में निर्देश किया जा सकता है । इसका परिहार है कि—शिला, काष्ठ तथा स्वयं जीव के शुद्ध स्वरूप में प्राणों का अभाव पाया जाता है । अतएव—'सभी भूत प्राण में लीन होते हैं तथा प्राण से ही उत्पन्न होते हैं ।' इत्यादि श्रुति के अर्थ सिद्ध नहीं हो सकते हैं। (क्योंकि शिला काष्ठ इत्यादि में प्राण व्याप्त नहीं ।) अतः (प्राणयति सर्वाणि भूतानि यः सः प्राणः) "(अर्थात् जो सभी भूतों को जीवित रखे उसे प्राण कहा जाता है) इस व्युत्पति के अनुसार सर्वों को जीवित रखने वाले परमात्मा को ही प्राण शब्द से कहा गया है । अतएव प्रसिद्ध आकाश तथा प्राण आदि से भिन्न सम्पूर्ण जगत के एकमात्र कारण अकर्मवश्य, सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प आदि कल्याण गुण गणों से युक्त परंब्रह्म ही आकाश प्राण आदि शब्दों के द्वारा कहे जाते हैं, यह सिद्ध हुआ ।

इस तरह प्राणाधिकरण समाप्त हुआ ।

※ ज्योति अधिकरण का प्रारम्भ ※

मूल—अतः परं जगत्कारणत्व व्याप्तेन येन केनापि निरतिशयोत्कृष्टगुणेन जुष्टं ज्योतिरिन्द्रादिशब्दैरर्थान्तर

प्रसिद्धैरर्थ्याभिधीयमानं परं ब्रह्मैवेत्यभिधीयते ज्योतिश्चरणाभिधानादित्यादिना ।

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ।२५।

इदमाम्नायते छान्दोग्ये—अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते बिश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं बा वतद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः" इति । तत्र संशयः, किमयं ज्योतिश्शब्देन निर्दिष्टो निरतिशयदीप्तियुक्तोऽर्थः प्रसिद्धमादित्यज्योतिरेव कारणभूतं ब्रह्म, उत समस्त चिदचिद्वस्तुजातबिसजातीयः परमकारणभूतोऽमितभास्सर्वज्ञः सत्यसङ्कल्पः पुरुषोत्तमः इति ? किं युक्तम् ? प्रसिद्धमेव ज्योतिरिति । कुतः ? प्रसिद्धवन्निर्देशेऽप्याकाशप्राणादिवत्स्वाक्योपात्तपरमात्मव्याप्तलिङ्गबिशेषादर्शनात् परम पुरुषप्रत्याभिज्ञानासम्भवात् । कौक्षेज्योतिषैक्योपदेशाच्च प्रसिद्धमेव ज्योतिः कारणत्वव्याप्तं निरतिशयदीप्तियोगाच्चजगत्कारणं ब्रह्मेति ॥

अनु०—प्राणाधिकरण के पश्चात् जगत् के कारण रूप से व्याप्त जिस किसी सर्वोत्कृष्ट गुणों से युक्त ज्योति, इन्द्र, आदि शब्दों के द्वारा अर्थान्तर रूप से प्रसिद्ध वस्तुओं के द्वारा कहा जाने वाला परम ब्रह्म ही अभिहित होता है । इस बात

को 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इत्यादि सूत्रों के द्वारा कहा गया है। छान्दोग्योपनिषद् के (३।१३।७) श्रुति में ज्योति शब्द के द्वारा परमब्रह्म परमात्मा का ही अभिधान किया गया है। क्योंकि उक्त श्रुति में ज्योतिः शब्द वाच्य के चरण भी बतलाये गये हैं और लोक प्रसिद्ध ज्योति के चरण नहीं देखे जाते। [यह सूत्र का अर्थ है]।

छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति बतलाती है कि— पाँचों द्वारपालों की वासना के वर्णन के पश्चात् इस व्यष्टि तथा समष्टि तत्त्व से श्रेष्ठ अप्राकृत स्थान विशेष द्युलोक के व्यष्टि समष्टि बहिर्भूत सर्वोत्तम तथा उत्तम प्रकाश स्वरूप स्थान विशेष में जो अप्राकृत त्रिपाद ब्रह्म ज्योतिस्वरूप प्रकाशित हो रहा है वह द्युलोक के ऊपर प्रकाशित त्रिपाद ब्रह्म ही यह है। निश्चय ही यही परमात्मा इस शरीर के भीतर कौक्षेय ज्योति है। उस परमब्रह्म नारायण का यह साक्षात् दर्शन है। इस श्रुति के विषय में शंका होती है कि क्या यह ज्योति शब्द के द्वारा निर्दिष्ट सर्वोत्कृष्ट कान्ति युक्त वस्तु प्रसिद्ध सूर्य इत्यादि की ज्योति ही कारण भूत ब्रह्म है? अथवा समस्त जड़ चेतन वस्तु से भिन्न परम कारण भूत असीमित कान्ति युक्त सर्वज्ञ सत्यसंकल्प वाले पुरुषोत्तम? इन दोनों में क्या मानना ठीक है? पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रसिद्ध ज्योति को ही मानना चाहिये, क्योंकि इस श्रुति में भी यद्यपि प्रसिद्धवत् निर्देश किया गया है, फिर भी आकाश प्राण आदि के समान अपने वाक्य के ही द्वारा परमा-

त्मा में ही पाये जाने वाले किसी चिन्ह विशेष का दर्शन इस श्रुति में नहीं होता। अतएव उसके द्वारा परम पुरुष की प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है। किञ्च इस ज्योति की कौक्षेय ज्योति से एकता होने के कारण भी इसे प्रसिद्ध ज्योति ही मानना चाहिये। उसे ब्रह्म इसलिए कहा गया है कि कारण तत्व में पाये जाने वाला सर्वोत्कृष्ट कान्ति का योग रहने के कारण ही इसे जगत् का कारण ब्रह्म कहा गया है।

मूल—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे— ज्योतिश्चरणाभिधानात्। द्युसम्बन्धितया निर्दिष्टं निरतिशयदीप्तियुक्तं ज्योतिः परम पुरुष एव। कुतः? "पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इत्यस्यैव द्युसम्बन्धिनश्चरणत्वेन सर्वभूताभिधानात्।

एतदुक्तं भवति-यद्यपि अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः इत्यस्मिन् वाक्ये परमपुरुषासाधारणलिङ्गं नोपलभ्यते, तथापि पूर्ववाक्ये द्युसम्बन्धितया परम पुरुषस्य निर्देशादिदमपि द्युसम्बन्धिज्योतिस्स एवेति प्रत्यभिज्ञायत इति। कौक्षेय ज्योतिरैक्योपदेशश्च फलाय तदात्मकत्वानुसन्धानविधिरिति न कश्चिद्दोषः। कौक्षेयज्योतिषश्च तदात्मकत्वं भगवता स्वयमेवोक्तम् "अहं

वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः" इति ॥

अनु०—इस प्रकार का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सिद्धान्त कहते हैं—ज्योतिश्चरणाभिधानात् द्युलोक सम्बन्धी रूपसे बतलायी गयी सर्वोत्कृष्ट कान्ति युक्त ज्योति वाच्य परम पुरुष परमात्मा ही हैं। क्योंकि इसी द्युलोक की ज्योति के चरणों का वर्णन करती हुई 'इसके सभी भूत पादमात्र में व्यवस्थित हैं तथा इसका तीन पाद द्युलोक में व्यवस्थित है' यह श्रुति सभी भूतों को इसके पादमात्र में व्यवस्थित बतलाती है। कहने का आशय है कि—'यद्यपि-अथ यदतः परोदिवोज्योति' इस वाक्य में परम पुरुष का कोई असाधारण (जो दूसरे में नहीं मिले) चिह्न नहीं मिलता है, फिर भी इसके पहले के वाक्य में द्युलोक सम्बन्धी रूप से परम पुरुष का वर्णन होने से पता चलता है कि यह द्युलोक सम्बन्धी ज्योति भी वही परमात्मा ही है।

कौक्षेय ज्योति के साथ जो उस ज्योति की एकता बतलायी गयी है वह इसलिए कि फल प्राप्ति के लिए कौक्षेय ज्योति में भी ब्रह्मात्मकत्वानुसन्धान करना चाहिये, अतएव कोई दोष नहीं है। कौक्षेय ज्योति का ब्रह्मात्मकत्व भगवान स्वयं गीता में बतलाते हुए कहते हैं-'मैं ही जाठराग्नि बनकर प्राणियों के शरीर में प्रवेश कर गया हूँ।' ॥ २५ ॥

मूल—छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पण निगमात् तथा हि दर्शनम् ॥२६॥

पूर्वस्मिन्वाक्ये "गायत्री वा इदं सर्वम्" (छा० ३-१२-१) इति गायत्र्याख्यं छन्दोऽभिधाय 'तदेतदृचाभ्यनुक्तम्' इत्युदाहृतायाः 'तावानस्य महिमा' (छा० ३-१२-६) इत्यस्या ऋचोऽपि छन्दोविषयत्वान्नात्र परमपुरुषाभिधानमिति चेत तन्न, तथा चेतोऽर्पणनिगमात्—न गायत्रीशब्देन छन्दोमात्रमिहाभिधीयते छन्दोमात्रस्य सर्वात्मकत्वानुपपत्तेः, अपि तु ब्रह्मण्येव गायत्रीचेतोऽर्पणमिह निगम्यते । ब्रह्मणि गायत्रीसादृश्यानुसन्धानं फलायोपदिश्यत इत्यर्थः । सम्भवति च पादोऽस्य सर्वाभूतानि (छा० ३-१२-६) । त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति चतुष्पदो ब्रह्मणः चतुष्पदा गायत्र्या च सादृश्यम् । चतुष्पदा च गायत्री क्वचिद्दृश्यते तद्यथा "इन्द्रश्शचीपतिः । वलेन पीडितः । दुश्च्यवनो वृषा । समित्सुसासहिः" इति । तथा ह्यन्यत्रापि सादृश्याच्छन्दोऽभिधायी शब्दोऽर्थान्तरे प्रयुज्यमानो दृश्यते । यथा संवर्गविद्यायाम्' ते वा एते पञ्चान्येपञ्चान्ये दश सम्पद्यन्ते' इत्यारभ्य 'सैषा विराडन्नात्' इत्युच्यते ॥२६॥

अनु०—ज्योतिः शब्द वाच्य परंब्रह्म नहीं हो सकते क्योंकि उससे पहले के वाक्य में छन्द विशेष के वाचक गायत्री शब्द से अभिहित किया गया है तो यह कहना इसलिये उचित नहीं है कि ब्रह्म में गायत्री के सादृश्य के अनुसन्धान का उपदेश किया गया है गायत्री और ब्रह्म में चरण की समता श्रुतियों में देखी भी जाती है। (यह सूत्रार्थ हुआ)।

पहले के वाक्य में गायत्री नामक छन्द का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है 'सम्पूर्ण जगत् गायत्रीमय है' (छा० ३।१२।१)पुनः कहा गया है कि 'ऋक् छन्द के द्वारा कहा गया है। इस उदाहृत श्रुति की महिमा बतलाते हुए कहा गया है कि वह गायत्री की महिमा है' चूंकि यह श्रुति भी गायत्री का ही निर्देश करती है अतएव परमात्मा का यहा वर्णन नहीं है यही मानना चाहिए। तो इस प्रकार की शंका उचित नहीं है।क्योंकि- तथा चेतोर्पण निगमत्। अर्थात् यहाँ पर गायत्री छन्द का ही अभिधान नहीं किया गया है। क्यों कि गायत्री छन्द ही सबों की आत्मा नहीं हो सकती। बल्कि यहां पर गायत्री में ही ब्रह्म की उपासना का उपदेश किया जाता है। ब्रह्म में गायत्री के सादृश्य अनुसंधान का फल प्राप्ति के लिए आदेश किया जाता है। 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' अर्थात् ब्रह्म के एक पाद में सम्पूर्ण भूत व्यवस्थित है और इसका अमृत त्रिपाद द्युलोक (वैकुण्ठ लोक) में स्थित है। इस श्रुति के द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्म के चार चरणों की समता-

चतुष्पदा गायत्री से संभव है। यदि कहा जाय कि गायत्री तो त्रिपदा देखी जाती है उसके चार पाद कैसे ? तो इसका उत्तर है कि कहीं पर गायत्री के चार पाद भी देखे जाते हैं। जैसे :- इन्द्रः शचीपति । बलेन पीडितः । दुश्च्यवनो वृषा । समित् सुसाहि । (यह चतुष्पदा गायत्री है । इसी तरह ब्रह्म के भी चार पाद होते हैं। ब्रह्म का पहला पाद आत्मवर्ग है, जिसे सर्व भूत शब्द से कहा गया है। ब्रह्म का द्वितीय पाद पृथिवी लोक है, जो कर्मार्जित भोग स्थान रूप है । भोगोपकरण भूत शरीर उसका तीसरा पाद है । और हृदयाकाश ब्रह्म का चौथा पाद है। इस तरह दोनों के चतुष्पाद होने के ही कारण दोनों की समता बतलायी गयी है ।

इसी तरह अन्य भी सादृश्य के कारण छन्द का वाचक गायत्री शब्द का अर्थान्तर भूत ब्रह्म के अर्थ में प्रयोग देखा जाता है। जैसा कि संवर्ग विद्या में भी देखा जाता है 'निश्चय ही ये पाञ्च संख्या वाले अन्य (अधिदैवत अग्नि, आदित्य, चन्द्र, जल और वायु) तथा पाञ्च संख्या वाले अन्य अध्यात्म — वाणी, चक्षु:, श्रोत्र, मन और प्राण) ये मिलकर दशत्व संख्या को प्राप्त होते है।' इस श्रुति से प्रारम्भ होकर) यह विराड छन्द अन्न भोक्त्री है । यहाँ पर कहा जाता है ।

टिप्पणी :—यथा संवर्गविद्यायाम् – संवर्ग विद्या छान्दोग्योपनिषद् के पाँचवे अध्याय में वर्णित है । इस संवर्ग विद्या

में यह बतलाया गया है कि पाँच अध्यात्मिक तथा पांच अधि-दैवत तत्वों का भिन्न भिन्न समुदाय मिलकर दशत्व संख्या को प्राप्त होता है। इस दशत्व संख्या की प्राप्ति को कृत शब्द से अभिहित किया गया है। कृत शब्द से इस लिए अभिहित किया गया है कि प्राचीन काल में कोई जुआ खेला जाता था, जिसमें १० पासे होते थे। उनमें एक पासे पर एक लिखा रहता था जिसे कलि शब्द से अभिहित किया जाता था। दो पासों पर दो लिखा रहता था जिसे द्वापर नाम से अभिहित किया जाता था। तीन पासों पर तीन लिखा रहता था जिन्हे त्रेता के नाम से अभिहित किया जाता था। चार पासे ऐसे होते थे जिन पर चार लिखा रहता था और उन्हे कृत नाम से अभिहित किया जाता था। इनमें तीन प्रकार के कलि, द्वापर एवं त्रेता नाम के पासों का कृत नामक पासे में ही अन्तर्भाव माना जाता था। अतएव उस जुए को भी कृत के ही नाम से अभिहित किया जाता था। जिस तरह दशत्व संख्या सम्पन्न कृत होता था उसी तरह दशत्व संख्या सम्पन्न सम्वर्ग तत्व के होने से उसे कृत नाम से अभिहित किया जाता है। इस संवर्ग विद्या में भी उपास्य दशत्व संख्या सम्पन्न कृत रूप दस दिशाओं में रहने वाला अन्न होता है। और दश अक्षरों वाला विराट भी अन्नाद कहा गया है।

मू०—इतश्च गायत्रीशब्देन ब्रह्मैवाभिधीयते—

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ।। २७ ।।

भूतपृथिवीशरीर हृदयानि निर्दिश्य "सैषा चतुष्पदा" इति व्यपदेशो ब्रह्मण्येव गायत्रीशब्दाभिधेय उपपद्यते ॥ २७ ॥

अनु०—इस लिए भी गायत्री शब्द से ब्रह्म का ही अभिधान होता है कि—'भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्' ॥ २७ ॥

गायत्री के क्रमशः भूत, पृथिवी, शरीर और हृदय को पाद रूप से निर्देश करके कहा गया है कि– वह प्रसिद्ध गायत्री चतुष्पदा है। इस तरह का कथन गायत्री शब्द से कहे जाने वाले ब्रह्म में ही उपपन्न होता है।

सू०–'उपदेशभेदान्नेतिचेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २८ ॥

पूर्ववाक्ये "त्रिपादस्यामृतं दिवि" (छा ६–१२–६) इति दिवोऽधिकरणत्वेन निर्देशादिह च दिवः पर इत्यवधित्वेन निर्देशादुपदेशस्य भिन्नरूपत्वेन पूर्ववाक्योक्तं ब्रह्म परस्मिन्न प्रत्यभिज्ञायत इति चेत्, तन्न उभयस्मिन्नप्युपदेशे अर्थ स्वभावैक्येन प्रत्यभिज्ञाया अविरोधात्; यथा 'वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः श्येनः इति। तस्मात्परः पुरुष एव निरतिशयतेजस्को दिवः परो ज्योतिर्दीप्यत इति प्रतिपाद्यते। "एतावानस्य महिमा। अतो ज्यायांश्च पुरुषः पादोऽस्य विश्वा भूतानि। त्रिपादस्यामृतं

दिवि" इति प्रतिपादितस्य चतुष्पदः परमपुरुषस्य वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् । आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे ' इत्यभिहिताप्राकृतरूपस्य तेजोऽप्यप्राकृतमिति तद्वत्तया स एव ज्योतिश्शब्दाभिधेय इति निरवद्यम् ।

यदि कहें कि दोनों वाक्यों के उपदेशों में भेद होने के कारण पूर्व वाक्य में कहा गया ब्रह्म उत्तर वाक्य में नहीं वर्णित है, तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि दोनों वाक्यों के उपदेशों में कोई भेद नहीं है । यह सूत्रार्थ हुआ ।

पहले वाक्य में 'इसका त्रिपाद् द्युलोक में प्रतिष्ठित है ।' इस श्रुति के द्वारा द्युलोक को अधिकरण रूप से निर्दिष्ट किया गया है । और इसके उत्तर वाक्य (अथ यदतः परो दिवो) की सीमा द्युलोक के ऊपर को निर्दिष्ट होने के कारण दोनों उपदेशों के भिन्न होने से पूर्व वाक्योक्त ब्रह्म की उत्तर वाक्य में प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है । तो यह कहना उचित नहीं है । क्योंकि दोनों ही उपदेशों में विषय की एकता होने से प्रत्यभिज्ञा में कोई विरोध नहीं है । तो यह कथन इसलिए उचित नहीं है कि – जिस तरह 'वृक्ष के आगे वाज पक्षी है और 'वृक्षाग्र से परे वाज पक्षी है' इन दोनों वाक्यों में कोई विरोध नहीं है, उसी तरह पूर्व एवं उत्तर वाक्यों के उपदेशों में विरोध नही है । इसलिए उत्तर वाक्य में भी प्रतिपादित किया जाता है कि

सर्वोत्कृष्ट ज्योति सम्पन्न परम पुरुष ही द्युलोक से उपर ज्योति रूप से प्रकाशित होते हैं। 'यह उसकी महिमा है, इससे बढ़कर परम पुरुष है। उसके एक पाद में सम्पूर्ण भूत व्यवस्थित हैं, और इसका अमृत त्रिपाद् द्युलोक में स्थित है।' इस श्रुति के द्वारा प्रतिपादित चतुष्पाद् ब्रह्म के ही 'मैं इस महान पुरुष को जानता हूँ, जो तमोगुण से परे आदित्य के समान देदीप्यमान वर्ण वाला है।' इस श्रुति में वर्णित अप्राकृत रूप वाले ब्रह्म का तेज भी अप्राकृत (दिव्य) ही है। उस दिव्य ज्योति से युक्त होने के ही कारण ब्रह्म को ज्योति शब्द से अभिहित किया गया है, यह मानने में कोई दोष नहीं है।

॥ ज्योति अधिकरण समाप्त ॥

* इन्द्रप्राणाधिकरण *

मूल-निरतिशयदीप्तियुक्तं ज्योतिश्शब्दाभिधेयं प्रसिद्धवन्निर्दिष्टं परमपुरुष एवेत्युक्तम् इदानीं कारणत्वव्याप्तामृतत्वप्राप्त्युपायतयोपास्यत्वेन श्रुत इन्द्रप्राणादिशब्दाभिधेयोऽपि परम पुरुष एवेत्याह।

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥२९॥

कौषीतकी ब्राह्मणे प्रतर्दनविद्यायां "प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रयस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण

च 'इत्यारभ्य वरं बृणीष्व' इति वक्तारमिन्द्रं प्रति त्वमेव मे वरं बृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हितनमं मन्यसे

(कौषीतक्या ३-१)

इति प्रतर्दनेनोक्ते 'स हो वाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञा. त्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इति श्रूयते। तत्र संशयः किमयं हिततमोपासनकर्मतया इन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टो जीव एव, उत तद्व्यतिरिक्तः परमात्मा ? इति। किं युक्तम् ? जीव एवेति। कुतः ? इन्द्रशब्दस्य जीव विशेष एव प्रसिद्धेः। तत्समानाधिकरणस्य प्राणशब्द. स्यापि तत्रैव बृत्तेः। अयमिन्द्राभिधानो जीवः प्रतर्दनेन त्वमेव मे वरं बृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे। इत्युक्तः मामुपास्स्व इति स्वात्मोपासनं हिततममुपदिदेश। हिततमश्चामृतत्वप्राप्त्युपाय एव। जगत्कारणोपासनस्यैवामृतत्वप्राप्तिहेतुता "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इत्यवगता। अतः प्रसिद्ध जीवभाव इन्द्र एव कारणं ब्रह्म।

अनु०—ज्योति अधिकरण में वतलाया गया है कि सर्वोत्कृष्ट कान्तियुक्त, प्रसिद्ध के समान निर्दिष्ट परम पुरुष ही ज्योति

शब्द से कहा गया है। अब इस अधिकरण में बतलाया जा रहा है कि श्रुतियों में बतलाये गये कारणत्व के प्रयोजक मोक्ष की प्राप्ति के उपाय रूप से उपास्य इन्द्रप्राण आदि शब्दों से भी परम पुरुष ही अभिहित किये गये हैं। इस अर्थ को बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

प्राणस्तथानुगमात् ॥ २६ ॥

कौषितकी ब्राह्मण की प्रतर्दनविद्या में-प्रसिद्ध है कि दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन अपनी युद्धकला तथा पौरुष में विख्यात होने से इन्द्र के प्रिय धाम स्वर्गलोक में गया। यहां से प्रारम्भ करके 'वर मांगो' ऐसा कहने वाले इन्द्र के प्रति प्रतर्दन के यह कहने पर कि 'तुम ही मेरे लिए ऐसे वरदान का वरण (चयन) करो जो मनुष्यों के लिए सबसे हितकारी मानते हो' इन्द्र ने कहा—मैं प्रज्ञा (बुद्धि) शरीरक प्राण हूँ, इस तरह से मुझे जानकर तुम आयु और प्राणरूप से मेरी उपासना करो।'

इस विषय में यह शंका होती है कि-क्या यह उपासना का सर्वाधिक हितकारी विषय रूप से इन्द्र प्राण शब्द से निर्दिष्ट कोई जीव ही है अथवा उससे भिन्न और कोई ? क्या मानना ठीक है ? पूर्वपक्षी का कहना है कि उसे जीव ही मानना चाहिये क्योंकि इन्द्र शब्द की जीव विशेष में ही प्रसिद्धि है और इन्द्र के ही समान अधिकरण वाले प्राण शब्द की भी मुख्यावृत्ति जीव विशेष ही है। यह इन्द्र नामक जीव प्रतर्दन के द्वारा यह कहे जाने

पर कि— तुम ही मेरे लिए वर का चयन करो जिसे तुम मनुष्य जाति का सबसे अधिक हितकारी मानते हो' उसने अपने आत्मा की उपासना को ही सबसे हितकारी रूप से उपदेश दिया। और सर्वाधिक हितकारी मोक्ष प्राप्ति का उपाय ही होता है। जगत् के कारण की उपासना ही मोक्ष प्राप्ति का साधन हैं— इस अर्थ का ज्ञान—उस कारणोपासक की मोक्ष प्राप्ति में तब तक ही विलम्ब है, जब तक उसका देह पात नहीं होता इसके पश्चात् उसे मुक्ति मिल जाती है।' इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है। अतएव प्रसिद्ध जीव ही जगत् का कारण और ब्रह्म है।

मूल—इत्याशंकायामभिधीयते-प्राणस्तथानुगमादिति। अयमिन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टो न जीवमात्रम्, 'अपि तु जीवादर्थान्तरभूतं परं ब्रह्म। स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा आनन्दोऽमृतः' इतीन्द्रप्राणशब्दाभ्यां प्रस्तुतस्यानन्दा जरामृतशब्दसामानाधिकरण्येनानुगमो हि तथा सत्येवोपपद्यते ॥२९॥

उपर्युक्त प्रकार का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सूत्रकार कहते हैं—'प्राणस्तथानुगमात्' यह इन्द्र प्राण शब्द से केवल जीव ही नहीं कहा गया है, बल्कि जीवों से भिन्न परंब्रह्म ही। 'यह प्रसिद्ध प्राण ही बुद्धि शरीरक, आनन्द स्वरूप अजर और अमृत है।' इस श्रुति में इन्द्र प्राण शब्द के द्वारा प्रस्तुत का आनन्द

अजर, और अमृत शब्द के साथ सामानाधिकरण्य रूप से अनुगम, इन्द्रप्राण शब्दाभिधेय परं ब्रह्म को ही मानने पर हो सकता है ॥२६॥

मूल—न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेद् ह्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ ३० ॥

यदुक्तम्—इन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टस्य 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यनेनैकार्थ्यादियं परं ब्रह्मेति । तन्नोपपद्यते; 'मामेव विजानीहि' प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा । तं मामायुरमृतमित्युपास्व' इति वक्ता हीन्द्रः त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम' इत्येवमादिना त्वाष्ट्रवधादिभिः प्रज्ञातजीवभावस्य स्वात्मन एवोपास्यतां प्रतर्दनायोपदिशति । अत उपक्रमे जीव विशेष इत्यवगतेसति आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादिभिरुपसंहारस्तदनुगुण एव वर्णनीय इति चेत् परिहरति—अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्—आत्मनि यः सम्बन्धःसोऽध्यात्म सम्बन्धः । तस्य भूमा—भूयस्त्वम् बहुत्वमित्यर्थः । आत्मन्याधेयतया सम्बध्यमानानां बहुत्वेन सम्बन्धबहुत्वम् । तच्चास्मिन् वक्तरि परमात्मन्येव हि सम्भवति । तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैताः भूत-

मात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणे अर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः' इति भूतमात्रा शब्देनाचेतनवस्तुजातमभिधाय प्रज्ञामात्राशब्देन तदाधारतया चेतनवर्गं चाभिधाय तस्याप्याधारतया प्रकृतमिन्द्रप्राणशब्दाभिधेयं निर्दिश्य तमेव— 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्युपदिशति। तदेतत् चेतनाचेतनात्मक कृत्स्नवस्त्वाधारत्वं जीवादर्थान्तरभूतेऽस्मिन् परमात्मन्येवोपपद्यते इत्यर्थः।

अनु०—यदि कहें कि वक्ता इन्द्रके द्वारा अपनी आत्मा की उपासना का उपदेश दिये जाने के कारण इन्द्र प्राण शब्द वाच्य परमात्मा नहीं हो सकता, तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि इसमें अध्यात्म शब्द का बहुत्व उपदिष्ट किया गया है। (यह सूत्रार्थ है)। यह जो कहा गया है कि इन्द्र प्राण शब्द से निर्दिष्ट की 'आनन्द स्वरूप तथा अजर एवं अमृत' से एकता होने से यह परं ब्रह्म ही हो सकता है, तो यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि 'मुझे विशेष रूप से जानो, मै प्राण एवं प्रज्ञात्मा स्वरूप हूँ मेरी ही आयु एवं अमृत रूप से उपासना करो।' यह कहने वाला इन्द्र ही है। 'मैंने तीन शिरों वाले त्वाष्टा के पुत्र वृत्र को मारा।' इत्यादि वाक्योक्त त्वाष्ट्र [वृत्रासुर] के वध आदि के द्वारा श्रुति प्रसिद्ध जीव भाव वाले इन्द्र की आत्मा की उपासना का

श्रुति प्रतर्दन के लिए उपदेश देती है। अतएव इस विद्या के उपक्रम में जीव विशेष का ज्ञान हो जाने पर 'आनन्द स्वरूप अजर एवं अमृत' इत्यादि वाक्यों के द्वारा उपसँहार का भी उसी के अनुकूल वर्णन करना चाहिये। इस शंका का परिहार करते हुऐ सूत्रकार कहते हैं—'अध्यात्म सम्बन्धो भूमा ह्यस्मिन्' आत्मा में जो सम्बन्ध है उसको अध्यात्म सम्बन्ध कहते हैं, उसकी भूमा वैपुल्य ही है। आत्मा में आधेय रूप से सम्बद्ध होने वालों की बहुलता होने के कारण सम्बन्ध बहुत्व सिद्ध हुआ और वह इस वक्ता परमात्मा में ही सम्भव है। श्रुति भी कहती है कि—'जैसे रथ के आरों में नेमि (धुरी) सम्बद्ध रहती है, उसी तरह भूत मात्रायें प्रज्ञामात्रा में तथा प्रज्ञामात्रा प्राण में लगे हुए हैं। वह प्राण ही प्रज्ञात्मा (बुद्धि शरीरक) आनन्द स्वरूप; अजर, तथा अमृत है। यह श्रुति भूत मात्रा शब्द के द्वारा अचेतन वस्तु समुदाय को कह कर, प्रज्ञामात्रा शब्द के द्वारा उसके अधार रूप से चेतन वर्ग को बतलाकर, उसके भी आधार रूप से इन्द्र प्राण शब्द के द्वारा कही जाने वाली वस्तु का निर्देश करके) उसको ही आनन्दस्वरूप जरा एवं मृत्यु धर्म से रहित बतलाती है। इस तरह उपर्युक्त जड एवं चेतन सभी वस्तुओं का आधार जीवों से भिन्न यह परमात्मा ही हो सकता है जिसे इन्द्र प्राण शब्द से श्रुति अभिहित करती है।

मूल–अथवा अध्यात्मसम्बन्ध भूमा ह्यस्मिन्–परमात्मासाधा

रणधर्मसम्बन्धोऽध्यात्मसम्बन्धः। तस्य भूमा बहुत्वं हि अस्मिन् प्रकरणे विद्यते। तथा हि प्रथमं त्वमेव मे वरं वृणीष्व यस्त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इति मामुपास्व इति च परमात्मा साधारणमोक्षसाधनोपासनकर्मत्वं प्राणशब्द· निर्दिष्टस्येन्द्रस्य इतीर्यते। तथा एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति। एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधोनिनीषति। इति सर्वस्य कर्मणः कारयितृत्वं च परमात्मधर्मः। तथा तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिताः एवमेवैता भूतमात्रा प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्रा प्राणेष्वर्पिताः' इति सर्वाधारत्वं च तस्यैव धर्मः। तथा 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्येतेऽपि परमात्मन एव धर्माः। एष लोकाधिपतिरेष सर्वेशः इति च परमात्मन्येव सम्भवन्ति तदेवमध्यात्मसम्बन्धभूम्नोऽत्र विद्यमानत्वात परमात्मैवात्रेन्द्रप्राण शब्दनिर्दिष्टः ॥३०॥

अथवा—'अध्यात्मसम्बन्ध भूमाह्यस्मिन्' इस सूत्र के अंश का अभिप्राय है कि—'परमात्मा के असाधारण धर्मों के सम्बन्ध को अध्यात्म शब्द कहते हैं, उसकी भूमा अर्थात् वैपुल्य ही इस

प्रकरण में वर्णित हैं देखें सर्व प्रथम तुम ही मेरे लिए ऐसे वरदानका चयन करो जिसे तुम मनुष्योंके लिए सर्वाधिक हितकारी मानते हो तथा मेरी ही उपासना करो।' इस तरह परमात्मा में ही पाये जाने वाले मोक्ष के साधन रूप से उपास्यत्व प्राण शब्द से कहे गये इन्द्र की प्रतीत होती है। तथा यह अपने जिस प्रिय पात्र को इन लोकों से ऊपर उठाना चाहता है, उसको प्रेरित करके यह ही अच्छे कर्म उससे करवाता है। और यह ही उन जीवों से बुरा कर्म करवाता है जिन जीवों को नीचे के नरकमें गिराना चाहता है। इस श्रुति में वर्णित सबोंके द्वारा अच्छे बुरे कर्म करवाने का धर्म परमात्मा का ही सम्भव है। तथा जिस तरह अक्षों का धूरि से सम्बन्ध होता है तथा धूरि में आर लगे रहते हैं उसी तरह ये सभी भूत मात्रायें प्रज्ञामात्रा में अर्पित है।

तथा प्रज्ञामात्रायें प्राण में अर्पित हैं इस श्रुति में सबों का आधार प्राण को ही बतलाया गया है। जोकि परमात्मा का ही धर्म है। 'तथा यह प्राण ही बुद्धि स्वरूप आनन्द स्वरूप जरा एवं मृत्यु रहित है।' इस श्रुति में भी बतलाये गये प्राण के सभी धर्म परमात्मा के ही हैं और उसे ही यह सभी लोकालोकों का अधिपति तथा सबों का नियामक है इस श्रुति में सभी परमात्मा के धर्म से युक्त बतलाया गया है। इस तरह इस प्रतर्दन विद्या के प्रकरण में अध्यात्म सम्बन्ध का बाहुल्य होने के कारण इन्द्र प्राणशब्द से परमात्मा का ही निर्देश किया गया है॥ ३०॥

मूल–कथं तर्हि प्रज्ञातजीवभावस्येन्द्रस्य स्वात्मन उपास्यत्वोपदेशस्संगच्छते, तत्राह—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ।१।१।३१॥

प्रज्ञातजीवभावेनेन्द्रेण 'मामेव विजानीहि मामुपास्स्वेत्युपास्यस्य ब्रह्मणस्स्वात्मत्वेनोपदेशोऽयं न प्रमाणान्तरप्राप्तस्वात्मावलोकनकृतः, अपितु शास्त्रेण स्वात्म दृष्टिकृतः । एतदुक्तं भवति— अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः इत्येवमादिना शास्त्रेण जीवात्मशरीरकं परमात्मानमवगम्य जीवात्मवाचिनामहंत्वमादिशब्दानामपि परमात्मन्येव पर्यवसानं ज्ञात्वा मामेव विजानीहि; मामुपास्स्वेति स्वात्मशरीरकं परमात्मानमेवोपास्यत्वेनोपदिदेशेति । वामदेववत्–यथा वामदेवः परस्य ब्रह्मणः सर्वान्तरात्मत्वं सर्वस्य च तच्छरीरत्वं शरीरवाचिनां च शब्दानां शरीरिणि पर्यवसानं

पश्यन् अहमिति स्वात्मशरीरकं परं ब्रह्म निर्दिश्य तत्सामानाधिकरण्येन मनुसूर्यादीन् व्यपदिशति "तद्धैत-त्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चाह कक्षीवानृषिरस्मि विप्र, इत्यादिना। यथा च प्रह्लादः "सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः। मत्तस्सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने"। इत्यादि वदति ॥३१॥

अनु०—यदि कहें कि—तो फिर जिनका जीवभाव ज्ञात है उस इन्द्र के द्वारा अपनी आत्मा के उपास्यत्व का उपदेश कैसे संगत होता है। तो इसका उत्तर है कि—

"शास्त्र दृष्ट्या तूपदेशोवामदेववत् ॥ ३१ ॥"

अर्थात् शास्त्रों के द्वारा अपने को परमात्मक जानकर अपनी आत्मा भूत परमात्मा के उपास्यत्व का उपदेश इन्द्र ने उसी तरह दिया जिस तरह महर्षि वामदेव ने अपने को परमा-त्मात्मक जानकर, अपने को मनु और सूर्य रूप से उपदेश दिया। जिनका जीवत्व प्रज्ञात है उस इन्द्र के द्वारा—'मुझे ही विशेष रूप से जानो' 'मेरी ही उपासना करो।' इन श्रुतियों में उपास्य ब्रह्म का आत्मा रूप से उपदेश अपने आत्मा के दर्शन के लिए दूसरे प्रमाणों से नहीं सिद्ध है, अपितु वह शास्त्र के द्वारा स्वा-त्मदृष्टिकृत है। कहने का आशय है कि—"इस जीव के साथ स्वयं आत्मा रूप से प्रवेश करके इनके नाम रूप का विभाग

करूँ ।

'यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है ।' 'परमात्मा ही सम्पूर्ण जगत के भीतर प्रवेश करके उनका नियामक होने के कारण वह सवों का आत्मा है ।' जो आत्मा के भीतर रहता हुआ आत्मा की अपेक्षा अन्तरङ्ग है, जिसे आत्मा नहीं जानता, आत्मा जिसका शरीर है और जो आत्मा के भीतर रहकर उसका नियमन किया करता है ।' 'यह सभी भूतों का अन्तरात्मा कर्मों के परतन्त्र न रहने वाला दिव्य देव एक नारायण हैं ।' प्रभृति शास्त्रों के द्वारा जानकर कि जीव परमात्मा के शरीर हैं, जीवात्मा के वाचक 'मैं' 'तुम' आदि शब्दो का भी परमात्मा में ही पर्यवसान जानकर 'मुझको ही जानो' 'मेरी उपासना करो' इत्यादि वाक्यों के द्वारा अपने आत्मा भूत परमात्मा का ही उपास्य रूप से उपदेश दिया । वामदेववत्—अर्थात् जिस तरह से वामदेव ने परं ब्रह्म को सवों के अन्तरात्मत्व और सवों को परं ब्रह्म के शरीरत्व का साक्षात्कार करते हुये शरीर के वाचक शब्दों का शरीरी आत्मा पर्यन्त तात्पर्य जानते हुए 'मैं' शब्द से अपने आत्मा भूत परं ब्रह्म का निर्देश करके उसके ही समान अधिकरण में मनु आदि का उपदेश निम्न श्रुति में देते हैं— उस परं ब्रह्म परमात्मा का सवों की आत्मा रूप से साक्षात्कार करते हुए वामदेव ऋषि ने प्रतिपादन किया— 'मैं ही काल विशेष में मनु और सूर्य हुआ और मैं ही कक्षीवान नामक ब्राह्म ऋषि हूँ ।' जैसा कि प्रहलाद ने भी (वि० पु० १।१६।८६) में बतलाया—

चूंकि अनन्त परं ब्रह्म सबों की आत्मा हैं अतएव मैं तदात्मक ही हूँ। परमात्मात्मक ही मुझसे सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न है, मैं ही सब कुछ हूँ; और नित्य मुझमें सारा जगत व्यवस्थित है। इत्यादि ॥ ३१ ॥

मूल–अस्मिन् प्रकरणे जीवदाचिभिश्शब्दैरचिद्विशेषाभिधायिभिश्चोपास्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणोऽभिधानेकारणं चोद्यपूर्वकमाह–

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ।१।१।३२॥

"न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्" त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम् अरुन्मुखान्यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्; इत्यादिजीवलिङ्गात्, यावदस्मिन् शरीरे प्राणो वसति यावदायुः अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति इति मुख्यप्राणलिङ्गाच्च नाध्यात्म संबन्धभूमेति चेन्न. उपासात्रैविध्यात् हेतोः। उपासना त्रैविध्यमुपदेष्टुं तत्तच्छब्देनाभिधानम्– निखिलकारण भूतस्य ब्रह्मणस्स्वरूपेणानुसन्धानम्, भोक्तृवर्गशरीरकत्वानुसन्धानम्; भोग्यभोगोपकरणशरीरकत्वानुसन्धानं चेति

त्रिविधमनुसन्धानमुपदेष्टुमित्यर्थः । तदिदं त्रिविधं ब्रह्मानुसन्धानं प्रकरणान्तरेष्वप्याश्रितम्—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, आनन्दो ब्रह्मेत्यादिषु स्वरूपानुसन्धानम्; तत्सृष्ट्वा; तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य, सच्च त्यच्चाभवत्; निरुक्तं चानिरुक्तं च; निलयनं चानिलयनं च; सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् इत्यादिषु भोक्तृशरीरतया, भोग्यभोगोपकरणशरीरतया चानुसन्धानम् । इहापि प्रकरणे तत् त्रिविधमनुसन्धानं युज्यत एवेत्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति— यत्र हिरण्यगर्भादिजीवविशेषाणां प्रकृत्याद्यचेतनविशेषाणां च परमात्मासाधारण धर्मयोगः तदभिधायिनां शब्दानां परमात्मवाचिशब्दैः सामानाधिकरण्यं वा दृश्यते, तत्र परमात्मनस्तत्तच्चिदचिद्विशेषान्तरात्मत्वानुसन्धानं प्रतिपिपादयिषितमिति। अतोऽत्रेन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टो जीवादर्थान्तरभूतः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥३२॥

इति इन्द्रप्राणाधिकरणम् ॥११॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये

प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

अनु०—इस प्रकरण में जीवत्व के वाचक शब्दों के द्वारा जड विशेषों के वाचक उपास्य भूत परं ब्रह्म के कथन में शंका पूर्वक करण को बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

'जीव मुख्य प्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रित त्वादिह तद्योगात् ।' अर्थात् यदि कहें कि—जीवों में पाये जाने वाले मुख्य प्राण के सम्बन्ध रुप चिह्न के द्वारा ज्ञात होता है कि अभ्यात्म सम्बन्ध भूमा नहीं है, तो यह कहना उचित न होगा क्योंकि ऊपासना के त्रैविध्य को बतलाने के ही लिये विभिन्न शब्दों से परमात्मा का अभिधान किया गया हैं ।

'वाणी की विशेष रुप से जिज्ञासा न करके बोलने वाले को जानना चाहिये' तीन शिरों वाले त्वष्टा के पुत्र बृत्र को मैंने मारा, वेद पराङ्मुख कुमार्गगामी सन्यासियों को मेंने भेडियों को खाने के लिए डाल दिया' इत्यादि वाक्यों में प्रसिद्ध जीव इन्द्र के चिह्नों के द्वारा 'जब तक इस शरीर में प्राण रहता है तब तक आयु रहती ।' 'निश्चित रुप से प्रज्ञात्मा प्राण ही इस शरीर को पकड कर ऊठाता है ।' इत्यादि वाक्यों में प्राण शब्द के मुख्य प्राण की वाचकता का मुख्य चिह्न देखकर इस प्रकरण में अध्यात्म सम्बन्ध (परमात्मा सम्बन्ध) को वैपुल्य नहीं माना जा सकता है । तो ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि ऊपासा त्रैविध्यात् अर्थात् तीन प्रकार की ऊपासना का ऊपदेश करने

के लिए ही विभिन्न शब्दों के द्वारा परमात्मा का अभिधान किया गया है। (१) सम्पूर्ण जगत् के एकमात्र कारण भूत ब्रह्म का स्वरुपत: अनुसन्धान, (२) सम्पूर्ण जीव शरीरक रुप से परमात्मा का अनुसन्धान तथा (३) भोग्य तथा भोग के साधन भूत प्रकृति शरीरक रुप से परमात्मा का अनुसन्धान रुप तीन प्रकार के अनुसन्धान का ऊपदेश करने के लिए ही। यह ब्रह्म की तीन प्रकार की उपासना अन्य प्रकरणों में भी सिद्ध होती है। जैसे– 'सत्यं ज्ञानमनान्तं ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म के स्वरुप का अनुसन्धान। 'ब्रह्म जगत् की सृष्टि करके, ऊसमें प्रवेश कर गया, जगत में प्रवेश करके जड़ चेतन रुप हो गया। वह जाति गुण क्रियादिवाच्य निरुक्त तथा जाति, गुण क्रियादि शून्य अनिरुक्त चेतन, अचेतन वर्ग के अधार भूत चेतन समूह रुप चेतन एवं अचेतन (जड वस्तुयें) अजड स्वरुप तथा जड स्वरुप वही हो गया। सत्य एवं असत्य रुप वह सत्य वाच्य ही हो गया। इन वाक्यों में परं ब्रह्म के भोक्ता जीव शरीरक तथा भोग्य भोगोंपकरण भूत जड शरीरक परंब्रह्म के अनुसन्धान का विधान किया गया है।

इस इन्द्रप्राण विद्या के प्रसंग में भी वही तीन प्रकार का अनुसन्धान सिद्ध होता है। कहने का आशय है कि— जहां हिरण्यगर्भ आदि जीव विशेषों तथा प्रकृति आदि अचेतन विशेषों का परमात्मा के असाधारण धर्म से योग अथवा उनका परमात्मा के वाचक शब्दों के साथ सामानाधिकरण्य देखा

जाता है वहां पर जड़ चेतन विशेषों की अन्तरात्मा रूप से परमात्मा के अनुसन्धान का प्रतिपादन अभिलषित है। अतएव इन्द्र प्राण शब्द के द्वारा जीवों से भिन्न परमात्मा ही सिद्ध होते है।

इस तरह शारीरक मीमांसा के श्रीभाष्य के प्रथम पाद का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद का प्रारम्भ

मूल-प्रथमे पादे अधीतवेदः पुरुषः कर्ममीमांसाश्रवणाधिगत-कर्मयाथात्म्यविज्ञानः केवलकर्मणामल्पास्थिरफलत्वमव-गम्य, वेदान्तवाक्येषु चापातप्रतीतानन्तस्थिरफलब्रह्मस्व-रूपतदुपासनसमुपजातपरमपुरुषार्थलक्षणमोक्षापेक्षोऽवधा-रितपरिनिष्पन्नवस्तुबोधनशब्दशक्तिः वेदान्तवाक्यानां पर स्मिन् ब्रह्मणि निश्चितप्रमाणभावस्तदितिकर्तव्यतारूप-शारीरकमीमांसाश्रवणमारभेतेत्युक्तं शास्त्रारम्भसिद्धये ॥ १ ॥

अनन्तविचित्रस्थिरत्रसरूपभोक्तृभोग्यभोगोपकरणभोग स्थानलक्षणनिखिलजगदुदयविभवलयमहानन्दैककारणं परं ब्रह्म यतो वा इमानीत्यादिवाक्यं बोधयतीति च प्रत्यपादि ॥ २ ॥

जगदेककारणं परं ब्रह्म सकलेतरप्रमाणविषयतया शास्त्रैकप्रमाणकमित्यभ्यधाम ॥३॥

शास्त्रप्रमाणकत्वं च ब्रह्मणः प्रवृत्तिनिवृत्त्यविरहेऽपि स्वरूपेणैव परमपुरुषार्थभूते परस्मिन् ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यानां समन्वयान्निरूह्यत इत्यब्रूम ॥४॥

निखिलजगदेककारणतया वेदान्तवेद्यं ब्रह्म च ईक्षणाद्यन्वयादानुमानिकप्रधानादर्थान्तरभूतमचेतनविशेष एवेत्युपापीपदाम ॥५॥

स च स्वाभाविकानवधिकातिशयानन्दविपश्चित्त्वनिखिलचेतनभयाभयहेतुत्वसत्यसङ्कल्पत्वसमस्तचेतनाचेतनान्तरात्मत्वादिभिर्बद्धमुक्तोभयावस्थाज्जीवशब्दाभिलपनीयाच्चार्थान्तरभूत इति च समार्तिथामहि ॥६॥

स चाप्राकृताकर्मनिमित्तस्वासाधारणदिव्यरूप इत्युदैरिराम ॥७॥

आकाशप्राणाद्यचेतनविशेषाभिधायिभिर्जगत्कारणतया प्रसिद्धवन्निर्दिश्यमानस्सकलेतरचेतनाचेतनविलक्षणस्स एवेति समगरिष्महि ॥८-९॥

परतत्त्वासाधारणनिरतिशयदीप्तियुक्तज्योतिश्श-

न्द्राभिधेयो द्यु संबन्धितया प्रत्यभिज्ञानात्स एवेत्याति-
ष्ठामहि ॥१०॥

परमकारणासाधारणामृतत्वप्राप्तिहेतुभूतः परम-
पुरुष एव शास्त्रदृष्टयेन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इत्यत्र ब्रूमहि
॥ ११ ॥

अनु०-प्रथम पाद के जिज्ञासाधिकरण में — जिसने वेदों का अध्ययन कर लिया है वह पुरुष कर्ममीमांसा के श्रवण द्वारा कर्मों के वास्तविक स्वरूप को जान लेने के कारण केवल कर्मों का फल अल्प और अस्थिर जानकर और वेदान्त वाक्यों में ऊपर-ऊपर से प्रतीत हुए अनन्त एवं स्थिर फल वाले ब्रह्म के स्वरूप और उसकी उपासना से जिसको परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष की अपेक्षा उत्पन्न हो गयी है, वह पुरुष सिद्ध ब्रह्म को बतलाने वाली शब्द की शक्ति का निश्चय करके। वेदान्त वाक्यों की परं ब्रह्म में ही प्रमाणिकता स्वीकार करके। उसकी इति कर्तव्यता (करने का प्रकार) रूप शरीरक मीमांसा (वेदान्त) का श्रवण प्रारम्भ करे, यह शास्त्रारम्भ की सिद्धि हेतु कहा गया है ॥१॥ अनन्त अद्भुत जड़ जंगम रूप भोक्ता, भोग्य, भोग के साधन तथा भोग के स्थान रूप सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि, पालन, लय तथा महानन्द रूप मोक्ष प्रदान के एकमात्र कारण परं ब्रह्म हैं इस बात को 'यतो वा इमानि' इत्यादि वाक्य बतलाता है। (यह मैंने जन्माद्यधिकरण में बतलाया है।) सम्पूर्ण जगत् के

एकमात्र कारण परं ब्रह्मके वेद व्यतिरिक्त किसीभी दूसरेका प्रमाण का विषय न हो सकने के कारण उसमें केवल शास्त्र ही प्रमाण है, यह मैंने तीसरे (शास्त्र योनित्वाधिकरण) में कहा है। स्वरूपतः ही परम पुरुषार्थ रूप परं ब्रह्म में वेदान्त वाक्यों का अन्वय होने के कारण प्रवृत्ति निवृत्ति का सम्बन्ध न होने पर भी ब्रह्म का शास्त्र प्रमाणकत्व सिद्ध होता है, यह मैंने समन्वयाधिकरण में कहा है। सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र कारण होने से वेदान्तवेद्य ब्रह्म में ईक्षण आदि व्यापारों का सम्बन्ध होने से आनुमानिक प्रधान से भिन्न चेतन विशेष हैं, यह मैंने पांचवें अधिकरण में कहा है। छटे अधिकरण में मैंने इस बात का समर्थन किया है कि वह चेतन विशेष स्वाभाविक सीमातीत सर्वोत्कृष्ट आनन्द का आश्रय, सर्वज्ञ, सभी जीवों के भय एवं अभय का कारण, सत्य संकल्प तथा सम्पूर्ण जड़ चेतन वस्तुओं की अन्तरात्मा होनेसे बद्ध मुक्त दोनों प्रकार के जीवों से भिन्न है। सातवें प्रकरण में मैंने कहा कि वह ब्रह्म अप्राकृत गुणों से युक्त कर्मों के परतन्त्र न रहने वाला तथा स्वेतर समस्त वस्तु विलक्षण दिव्य गुणों से युक्त है। आठवें और नौवें अधिकरण में मैंने कहा है कि आकाश प्राण आदि जड़ विशेष के वाचक शब्दों के द्वारा जगत् के कारण रूप से उसका प्रसिद्धवत निर्देश किया जानेवाला सभी जड़ चेतन वस्तुओं से भिन्न वह ब्रह्म ही है। परम ब्रह्म में ही पाये जाने वाले सर्वोत्कृष्ट कान्ति युक्त शब्दाभिधेय द्युलोक सम्बन्धी रूप से ज्ञात होने के कारण ब्रह्म ही है। केवल परम

कारण में ही पाये जाने वाला मोक्ष प्राप्ति का साधन स्वरूप परम पुरुष ही शास्त्रों में इन्द्रादि शब्दों से कहा गया है ।

मूल—तदेवमतिपतितसकलेतरप्रमाणसंभावनाभूमिस्सार्वज्ञ्यसत्य सङ्कल्पत्वाद्यपरिमितोदारगुणसागरतया स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणः परं ब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायण एव वेदान्तवेद्य इत्युक्तम् ।

अतः परं द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु पादेषु, यद्यपि वेदान्तवेद्यं ब्रह्मैव, तथापि कानिचिद्वेदान्तवाक्यानि प्रधानक्षेत्रज्ञान्तर्भूतवस्तुविशेषस्वरूपप्रतिपादनपराण्येतेत्याशङ्क्य तन्निरसनमुखेन तत्तद्वाक्योदितकल्याणगुणाकरत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्यते ।

तत्रास्पष्टजीवादिलिङ्गकानि वाक्यानि द्वितीये पादे विचार्यन्ते, स्पष्टलिङ्गकानि तृतीये; तत्तत्प्रतिपादनच्छायानुसारीणि चतुर्थे ।

अनु०-इस तरह पहले पाद में यह बतलाया गया है कि अन्य किसी भी प्रमाण का विषय न बनने वाला सर्वज्ञता सत्य संकल्पत्व आदि सीमातीत कल्याण गुणों के सागर अपने से भिन्न सभी वस्तुओं से विलक्षण परम ब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण ही वेदान्तों के द्वारा प्रतिपादित किये जाते हैं । इसके बाद दूसरे

तीसरे और चौथे पादों में बतलाया गया है कि— यद्यपि वेदान्तों के विषय ब्रह्म ही है फिर भी कुछ वेदान्त वाक्य प्रधान (प्रकृति) और जीव के ही स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, यह आशंका करके उसके खण्डन के द्वारा विभिन्न वाक्यों में कहे गये ब्रह्म के कल्याणगुणाकरता का प्रतिपादन किया जाता है। उनमें भी अस्पष्ट रूप से जीव आदि का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों का विचार दूसरे पाद में. स्पष्ट जीव लिङ्गक वाक्यों का तीसरे पाद में, तथा उन प्रतिपादनों की छाया का अनुसरण करने वाले वाक्यों का चौथे पाद में किया जायेगा।

सर्वत्र प्रसिद्धाधिकरण

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥१।२।१॥

मूल—इदमाम्नायते छान्दोग्ये "अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः इत्यादि। अत्र ॐस क्रतुं कुर्वीतेति प्रतिपादितस्योपासनस्योपास्यः ॐमनोमयः प्राणशरीरः इति निर्दिश्यत इति प्रतीयते। तत्र संशयः— किं मनोमयत्वादिगुणकः क्षेत्रज्ञः, उत परमात्मेति। किं युक्तम्? क्षेत्रज्ञ इति। कुतः? मनः-प्राणयोः क्षेत्रज्ञोपकरणत्वात्, परमात्मनस्तु अप्राणो

ह्यमनाः इति तत्प्रतिषेधाच्च । न चा सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति पूर्वनिर्दिष्टं ब्रह्मात्रोपास्यतया संबद्धुं शक्यते, शान्त उपासीतेत्युपासनोपकरणशान्तिनिर्वृत्त्युपायभूतब्रह्मात्मकत्वोपदेशायोपात्तत्वात् । न चा स क्रतुं कुर्वीतेत्युपासनस्योपास्यसाकाङ्क्षत्वाद्वाक्यान्तरस्थमपि ब्रह्म संबध्यत इति युक्तं वक्तुम्, स्ववाक्योपात्तेन मनोमयत्वादिगुणकेन निराकाङ्क्षत्वात्, मनोमयः प्राणशरीरः इत्यनन्यार्थतया निर्दिष्टस्य विभक्तिविपरिणाममात्रेणोभयाकाङ्क्षानिवृत्तिसिद्धेः । एवं निश्चिते जीवत्वे एतद्ब्रह्मेत्युपसंहारस्थब्रह्मपदमपि जीव एव पूजार्थं प्रयुक्तमित्यध्यवसीयत इति ॥

अनु०— छान्दोग्योपनिषद् के तीसरे प्रपाठक में यह आम्नान किया गया है कि— इसके पश्चात् बतलाया जाता है कि इस लोक में जीव जैसी उपासना करता है मृत्यु के पश्चात् वह वैसा ही हो जाता है, अतएव मनुष्य उपासना प्रधान है । इसलिए पुरुष को उपासना करनी चाहिये । वह उपास्य विवेकादि साधन सप्तकानुगृहीत उपासना से परिशुद्ध मनोमात्र ग्राह्य, प्राण शरीरक एवं निरतिशय कान्ति युक्त है । इत्यादि ।

इस श्रुति में 'सक्रतुं कुर्वीत' श्रुति के द्वारा प्रतिपादित

उपासना के उपास्य को मनोमात्र ग्राह्य एवं प्राण शरीरक बतलाया गया है। यहाँ पर शंका होती है कि मनोमयत्वादि गुण वाला कोई जीव है अथवा परमात्मा ? क्या मानना ठीक है ? तो पूर्वपक्षी का कहना है कि वह उपास्य जीव ही है, क्योंकि मन और प्राण जीवों के ही उपकरण हैं। 'अप्राणोह्यमना' (अर्थात् परमात्मा मन एवं प्राण से रहित हैं) यह श्रुति परमात्मा के मन एवं प्राण से युक्तता का निषेध करती है। यहाँ पर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है। इस श्रुति में निर्दिष्ट ब्रह्म का यहाँ सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता है, क्योंकि श्रुति के द्वारा ही उपस्थापित मनोमयत्वादि के द्वारा वह निराकाँक्ष हो जाता है। 'मनोमयः प्राण शरीरः' इस श्रुति में निर्दिष्ट पुल्लिङ्ग जीव से भिन्न नपुंसक लिङ्ग के ब्रह्म का मनोमयत्व, प्राण शरीरत्व विशेषण नहीं हो सकता है। क्योंकि उक्त श्रुति में निर्दिष्ट जीव की विभक्ति का विपरिणाम मात्र कर देने से दोनों की आकाँक्षाओं की सिद्धि हो जाती है। इस तरह से जीवत्व का निश्चय हो जाने पर 'यह ब्रह्म ही है।' इस उपसंहार वाक्य के ब्रह्म का भी जीव के अर्थ में पूजार्थक प्रयोग किया गया है, यह निश्चित होता है।

मूल—एवं प्राप्ते ब्रूमः— सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्। मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मा। कुतः ? सर्वत्र— वेदान्तेषु परस्मिन्नेव ब्रह्मणि प्रसिद्धस्य मनोमयत्वादेरुपदेशात्

प्रसिद्धं हि मनोमयत्वादि ब्रह्मणः । यथा— मनोमयः प्राणशरीरनेता स एषोऽन्तर्हृदय आकाशः, तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः, अमृतो हिरण्मयः हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एवं विदुरमृतास्ते भवन्ति *न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा" *मनसा तु विशुद्धेन, *तथा 'प्राणस्य प्राणः *अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते इत्यादिषु । मनोमयत्वं—विशुद्धेन मनसा ग्राह्यत्वम् । प्राणशरीरत्वं प्राणस्याप्याधारत्वं नियन्तृत्वं च । एवं च सति एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्मेति ब्रह्मशब्दोऽपि मुख्य एव भवति । अप्राणो ह्यमनाः इति मन आयत्तं ज्ञानं प्राणायत्तां स्थितिं च ब्रह्मणो निषेधति ।

अनु०— इस तरह सेपूर्वपक्ष के उपस्थित होने पर सिद्धान्ती कहते हैं—'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' अर्थात् मनोमयत्व आदि गुण वाले परमात्मा ही हैं क्योंकि—सर्वत्र वेदान्तों में प्रसिद्ध मनोमयत्व आदि का उपदेश किया गया है । ब्रह्म का मनोमयत्व आदि गुण प्रसिद्ध है । जैसा कि मुण्डकोपनिषत् में बतलाया गया है । ब्रह्म विशुद्ध मनोग्राह्य तथा प्राण और शरीर के नेता

है। (तै० शी० ६) श्रुति कहती है—जो यह हृदय के भीतर आकाश है उसमें यह विशुद्ध मनोग्राह्य अमृत हिरण्मय पुरुष विद्यमान है। (तै० ना० ११) श्रुति के अनुसार– जो उपासक परमात्मा का हृदा [भक्ति के द्वारा] मनीषा [धैर्य के द्वारा] तथा विशुद्ध मन के द्वारा ग्राह्य जानते है वे मुक्त हो जाते हैं। (मु० ३।१।८) श्रुति बतलाती है कि ब्रह्म न तो नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों का विषय बनता है और न तो वाणी आदि कर्मेन्द्रियों का अपितु उसे साधन सप्तकानुगृहीत विशुद्ध मन के द्वारा ही जाना जा सकता है। और (के० १।२) श्रुति ब्रह्म को प्राणों का भी प्राण बतलाती है। (कौषी० ३।६) श्रुति कहती है कि— निश्चय ही वह जीव सहायक, मुख्य प्राण ही मृतप्राय सोये शरीर को हर तरह से पकड कर उठाता है। (छा० १। ११।५) के अनुसार– सभी भूत प्राण शब्द वाच्य परमात्मा में ही आकर लीन हो जाते हैं, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म का मनोमयत्व आदि प्रसिद्ध है। मनोमयत्व का अर्थ (विवेकादि साधन सप्तक के द्वारा जिसकी शुद्धि हो चुकी है) उस मनके द्वारा ग्रहण के योग्य होना। प्राण शरीर का अभिप्राय है प्रण का नियामक एवं आधार होना। इस तरह—'मेरा यह आत्मा हृदय के भीतर है, यही ब्रह्म है' इस श्रुति का ब्रह्म शब्द का भी मुख्यार्थ है, (अतएव वह जीव को नहीं बतलाकर ब्रह्म को ही बतलाती है। इस तरह 'अप्राणो ह्यमना:' श्रुति ब्रह्मके भी प्राणों के अधीन होने वाले ज्ञान का निषेध करती है।

स्वाभिमत वाक्यार्थ योजना

मूल–अथवा* सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीतेत्यत्रैवोपासनं विधीयते— सर्वात्मकं ब्रह्म शान्तस्सन्नुपासीतेति । *स क्रतुं कुर्वीतेति तस्यैव गुणोपदानार्थोऽनुवादः। *उपादेयाश्च गुणा मनोमयत्वादयः, अतस्सर्वात्मकं ब्रह्म मनोमयत्वादिगुणकमुपासीतेति वाक्यार्थः। तत्र सन्देहः—किमिह ब्रह्मशब्देन प्रत्यगात्मा निर्दिश्यते; उत परमात्मेति । किं युक्तम् ? प्रत्यागात्मेति । कुतः ? तस्यैव सर्वपदसामानाधिकरण्यनिर्देशोपपत्तेः । सर्वशब्द निर्दिष्टं हि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं कृत्स्नं जगत् ।

अनु०– प्रस्तुत अनुच्छेद में श्री भाष्यकार अपने मनोनुकूल वाक्यार्थ की योजना करते हुए कहते हैं– अथवा– 'सर्वं खल्विदम्' अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है, अपने आभ्यन्तरेन्द्रिय तथा वाह्येन्द्रिय को वश में करके (शान्त होकर) सम्पूर्ण जगत् के स्रष्टा, संहारकर्ता (अथवा मोक्ष प्रदाता) तथा पोषक रूप से उपासना करनी चाहिये ।' इस श्रुति में ही मोक्ष की प्राप्ति के लिए ब्रह्म की उपासना का विधान किया गया है । इस श्रुति का अभिप्राय है कि– शान्त होकर सम्पूर्ण जगत् की आत्मा रूप से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये । और

'सक्रतु' कुर्वीत' श्रुति में उसी ब्रह्म के गुणों का विधान करने के लिए [दध्ना जुहोति इत्यादि श्रुति के समान अनुवाद किया गया है । और ब्रह्म के मनोमयत्व आदि गुण विधेय हैं । इस तरह उपर्युक्त वाक्य का अर्थ हुआ कि— सर्वात्मक ब्रह्म की मनोमयत्व आदि गुण सम्पन्न रूप से उपासना करनी चाहिये ।

अब यहां पर यह शंका होती है कि— यहां पर ब्रह्म शब्द से किसका निर्देश श्रुति करती है ? जीवात्मा का या परमात्मा का ? क्या माना जाय ? पूर्वपक्षी का कहना हैं कि यहां पर जीवात्मा का ही निर्देश मानना उचित है, क्योंकि जीव का ही सर्वपद से सामानाधिकरण्य के निर्देश का औचित्य होगा । क्योंकि इस श्रुति में सर्व शब्द से ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब [तृण] पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् का निर्देश किया गया है ।

मूल—ब्रह्मादिभावश्च प्रत्यगात्मनोऽनाद्यविद्यामूलकर्मविशेषोपाधिको विद्यत एव । परस्य तु ब्रह्मणस्सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेरपहतपाप्मनो निरस्तसमस्ताविद्यादिदोषगन्धस्य समस्तहेयाकरसर्वभावो नोपपद्यते । प्रत्यगात्मन्यपि क्वचित्क्वचिद्ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यते । अत एव परमात्मा परं ब्रह्मेति परमेश्वरस्य क्वचित्सविशेषणो निर्देशः । प्रत्यगात्मनश्च निर्मुक्तोपाधेर्बृहत्त्वं चविद्यते । स चानन्त्याय कल्पते इति श्रुतेः । अविदुषस्तस्यैव कर्म-

निमित्तत्वाज्जगज्जन्मस्थितिलयानां तज्जलानिति हेतु-निर्देशोऽप्युपपद्यते । तदयमर्थः अयं जीवात्मा स्वतोऽपरि-च्छिन्नस्वरूपत्वेन ब्रह्मभूतस्सन्ननाद्यविद्यया देवतिर्यङ्म-नुष्यस्थावरात्मनाऽवतिष्ठते इति ॥

और अपने अनादि काल से प्रवृत्त अविद्या जन्म कर्म विशेष के ही कारण जीव ब्रह्मा आदि भी बनता है । सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान, कर्म पारतन्त्रय से रहित तथा सम्पूर्ण अज्ञान आदि दोषों की गन्ध से भी रहित परं ब्रह्म तो सभी कल्याण गुणों के एकमात्र आश्रय सर्व शब्द वाच्य जगत् भाव को प्राप्त नहीं नहो सकता है । यह भी देखा जाता है कि कहीं कहीं पर जीवात्मा के लिए भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया जाता है । इसलिए कहीं कहीं पर परमात्मा परं ब्रह्म इत्यादि रूप से ईश्वर का विशेषण विशिष्ट रूप से निर्देश होता है । और उपाधि रहित मुक्त जीव में भी बृहत्त्व गुण पाया ही जाता है । क्योंकि श्रुति भी बतलाती है कि—'मुक्त जीव अनन्त्य (सीमा-रहित्य) भाव को प्राप्त करता है । अज्ञानी बने उस जीव का ही कर्मों के कारण होने वाले जगत में जन्म, स्थिति और लय का तत्जालानि इस पद से निर्देश किया जाना उचित ही है । कहने का आशय यह है कि—स्वरूपतः यह जीवात्मा तो स्वयं परिच्छेद रहित है अतएव वह ब्रह्म भूत है फिर भी अनादि अविद्या के द्वारा वह देव, तिर्यक् मनुष्य, और स्थावर रूपों को धारण करता है ।

सू०–अत्र प्रतिविधीयते–सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । सर्वत्र–सर्वं खल्विदम् इति निर्दिष्टे सर्वस्मिन् जगति ब्रह्मशब्देन तदात्मतया विधीयमानं परं ब्रह्मैव– न प्रत्यगात्मा । कुतः ? प्रसिद्धोपदेशात्, तज्जलानिति हेतुतः सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति प्रसिद्धवदुपदेशात् ब्रह्मणो जातत्वाद्ब्रह्मणि लीनत्वाद्ब्रह्माधीनजीवनत्वाच्च हेतोर्ब्रह्मात्मकं सर्वं खल्विदं जगदित्युक्ते यस्माज्जगज्जन्मस्थितिलया वेदान्तेषु प्रसिद्धास्तदेवात्र ब्रह्मेति प्रतीयते । तच्च परमेव ब्रह्म । तथाहि * यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते; येन जातानि जीवन्ति; यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेत्युपक्रम्य आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्, आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते इत्यादिना पूर्वानुवाकप्रतिपादितानवधिकातिशयानन्दयोगिनो विपश्चितः परस्माद्ब्रह्मण एव जगदुत्पत्तिस्थितिलया निर्दिश्यन्ते । तथा *स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः इति करणाधिपस्य जीवस्याधिपः परं ब्रह्मैव कारणं व्यपदिश्यते । एवं सर्वत्र

परस्यैव ब्रह्मणः कारणत्वं प्रसिद्धम् । अतः परब्रह्मणो जातत्वात्तस्मिन् प्रलीनत्वात्तेन प्राणनात्तदात्मकतया तादात्म्यमुपपन्नम् । अतस्सर्वप्रकारं सर्वशरीरं सर्वात्मभूतं परं ब्रह्म शान्तो भूत्वोपासीतेति श्रुतिरेवपरस्य ब्रह्मणस्सर्वात्मकत्वमुपपाद्य तस्योपासनमुपदिशति ।परं ब्रह्म हि कारणावस्थं कार्यावस्थं सूक्ष्मस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरतया सर्वदा सर्वात्मभूतम् । एवंभूततादात्म्यस्य प्रतिपादने परस्य ब्रह्मणस्सकलहेयप्रत्यनीककल्याणगुणाकरत्वं न विरुध्यते; प्रकारभूतशरीरगतानां दोषाणां प्रकारिण्यात्मन्यप्रसङ्गात्, प्रत्युत निरतिशयैश्वर्यापादनेन गुणायैव भवतीति पूर्वमेवोक्तम् ।

अनु०—उपर्युक्त शंका का खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । इस सूत्र का सर्वत्र शब्द बतलाता है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति में सर्व शब्द से निर्दिष्ट सम्पूर्ण जगत् में ब्रह्म शब्द के द्वारा जगत् की आत्मा रूप से परं ब्रह्म की आत्मा रूप से ब्रह्म का ही विधान किया जाता है, जीव का नहीं । क्योंकि–प्रसिद्धोपदेशात् अर्थात्—'तज्जलान्' इस वाक्य में हेतु रूप से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह प्रसिद्ध के सामान निर्देश किया गया है । निश्चय ही यह सम्पूर्ण

जगत् ब्रह्मात्मक है क्योंकि वह ब्रह्म से उत्पन्न है, उसका लय ब्रह्म में ही होता है तथा उसका जीवन ब्रह्म के ही आधीन है । यह उक्त श्रुति में कहे जाने पर यह प्रतीत होता है कि जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय वेदान्तों में प्रसिद्ध हैं, वही ब्रह्म इस श्रुति में ब्रह्म शब्द से अभिहित किया गया है । वह परं ब्रह्म ही है । इस अर्थ को पुष्टि इस प्रकार होती है कि—(तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगु वल्ली में–) जिससे ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा जीते हैं, और जिसमें लीन होकर मोक्ष को प्राप्त करते है, उसे जानो, वही ब्रह्म है' इस श्रुति से प्रारम्भ करके – 'आनन्द ही ब्रह्म है, यह जानना चाहिए, आनन्द से ही ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं' इत्यादि वाक्य के द्वारा पहले के अनुवाद में प्रतिपादित सीमातीत सर्वोत्कृष्ट आनन्दाश्रय सर्वज्ञ (विपश्चित्) परं ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं लय होते हैं ? यह निर्दिष्ट किया गया है । और – 'वही सम्पूर्ण जगत् के कारण और करणाधिपरूप जीवों के भी स्वामी हैं । उस परं ब्रह्म का न तो कोइ जनक है और न तो कोइ नियामक ।' इस श्रुति में बतलाया गया है कि करणाधिप तो जीव है उसके भी कारण परं ब्रह्म ही हैं । इस तरह सभी वेदान्त वाक्यों में परं ब्रह्म की ही करणता प्रसिद्ध है । अतएव परं ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण उसमें उसके लीन होने के कारण और उसी के द्वारा

जीते रहने के कारण ब्रह्म जगत् की आत्मा है अतएव (सर्वं खल्विदं ब्रह्म ' इत्यादि वाक्यों में निर्दिष्ट जगत् से ब्रह्म का) तादात्म्य (अभेद) सिद्ध होता है । अतएव-सम्पूर्ण जगत् जिसका प्रकार (विशेषण) है; सम्पूर्ण जगत् जिसका शरीर है, तथा जो ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् की आत्मा है उस परं ब्रह्म की उपासना शान्त होकर करनी चाहिए ।

इस तरह से श्रुति ही परं ब्रह्म का सर्वों की आत्मा रूप से प्रतिपादय करके उसकी उपासनाका उपदेश देती है। कारणावस्थावस्थित सूक्ष्म जडचेतन शरीरक तथा कार्यावस्थावस्थित स्थूल जडचेतन शरीरक परं ब्रह्म ही सर्वों की नित्य आत्मा है। इस प्रकार से तादात्म्य का प्रतिपादन करने पर परंब्रह्म के अखिल हेयप्रत्यनीकत्व तथा अखिल कल्याण गुणाकरत्व का विरोध नहीं होगा । क्योंकि जिस तरह शरीर के दोषों का आत्मा से सम्बन्ध नहीं होता है उसी तरह ब्रह्म के प्रकार तथा शरीर भूत जगत् के दोषों का प्रकारी आत्मा (परं ब्रह्म) से संबंध होने का प्रसंग नहीं होने से तथा सीमातीत ऐश्वर्य का प्रतिपादन करने के कारण वे दोष भी गुण रूप में ही प्रवर्तित हो जायेंगे यह मैं पहले ही कह चुका हूँ ।

मूल-यदुक्तं जीवस्य सर्वतादात्म्यमनुपपन्नम् इति, तदसत्, जीवानां प्रतिशरीरं भिन्नानामन्योन्यतादात्म्यासंभवात् । मुक्तस्याप्यनवच्छिन्नस्वरूपस्यापि जगत्तादा-

त्मयं जगज्जन्मस्थितिप्रलयकारणत्वनिमित्तं न संभवतीति *जगद्व्यापारवर्जम् इत्यत्र वक्ष्यते । जीव, कर्मनिमित्तत्वाज्जगज्जन्मस्थितिलयानां स एव कारणमित्यपि न साधीयः; तत्कर्मनिमित्तत्वेऽपीश्वरस्यैव जगत्कारणत्वात् । अतः परमात्मैवात्र ब्रह्मशब्दाभिधेयः । इममेव सूत्रार्थमभियुक्ता बहुमन्वते । यथाह वृत्तिकारः *सर्वं खल्विति सर्वात्मा ब्रह्मेश इति ॥ १ ॥

अनु०—पूर्व पक्षी का यह जो कहना है कि जीव का सर्वशब्द वाच्य जगत् से अभेद उचित सिद्ध होता है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है । क्योंकि प्रत्येक शरीरों में रहने वाले आत्मा भिन्न-भिन्न है अतएव उनका परस्पर में अभेद होना सम्भव नहीं है । यद्यपि मुक्त जीव का स्वरूप सीमातीत है फिर भी उसका जगत् के साथ तादात्म्य होना संभव नहीं है । क्योंकि मुक्तात्मा जगत् के जन्म, स्थिति और लय का कारण नहीं हो सकता है, इस बात को स्वयं सूत्रकार ही ब्रह्म सूत्र के चौथे अध्याय में 'जगद्व्यापारवर्जम्' सूत्र में कहेंगे । यह भी कहना ठीक नहीं है कि जीवों के ही कारण जगत् की सृष्टि, स्थित और लय होते हैं अतएव सृष्टि स्थिति तथा लय का कारण जीव ही है। क्योंकि जीवों के कर्मों के सृष्टि आदि का कारण होने

पर भी जगत् का कारण ईश्वर ही है। अतएव इस *सर्वं खल्विदं ब्रह्म श्रुति में ब्रह्म शब्द से परमात्मा ही कहे गये हैं। अभियुक्त जन सूत्र के इसी अर्थ का अधिक आदर करते हैं। जैसा कि वृत्तिकार बोधायन स्वयं कहते हैं—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म में सबों की आत्मा रूप से बतलाये गये, ब्रह्म शब्द वाच्य परमात्मा ही हैं।

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च । १ २ २ ॥

मूल—वक्ष्यमाणाश्च गुणाःपरमात्मन्येवोपपद्यन्ते *मनोमयः प्राणशरीरो भारूपस्सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामस्सर्वगन्धस्सर्वरसस्सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः इति । मनोमयः— परिशुद्धेन मनसैकेन ग्राह्यः, विवेकविमोकादिसाधनसप्तकानुगृहीतपरमात्मोपासननिर्मलीकृतेन ; हि मनसा गृह्यते । अनेन हेयप्रत्यनी, ककल्याणैकताननतया सकलेतरविलक्षणस्वरूपतोच्यते, मलिनमनोभिर्मलिनानामेव ग्राह्यत्वात् । प्राणशरीरः— जगतिसर्वेषां प्राणानां धारकः, प्राणो यस्य शरीरम् आधेयं विधेयं शेषभूतं च स प्राण; शरीरः । आधेयत्वविधेयत्वशेषत्वानि शरीरशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमित्युपपादयिष्यते । भारूपः—भास्वरूपः—; अप्राकृतस्वासाधारणनिरतिशयकल्याणदिव्यरूपत्वेन

निरतिशयदीप्तियुक्त इत्यर्थः । सत्यसङ्कल्पः—अप्रतिहतसंकल्पः । आकाशात्मा—आकाशवत्सूक्ष्मस्वच्छस्वरूपः । सकलेतरकारणभूतस्याकाशस्यात्मभूत इति वा आकाशात्मा । स्वयं च प्रकाशते अन्यानपि प्रकाशयतीति वा आकाशात्मा । सर्वकर्मा—क्रियत इति कर्म, सर्वं जगद्यस्य कर्म असौ सर्वकर्मा, सर्वा वा क्रिया यस्यासौ सर्वकर्मा । सर्वकामः—काम्यन्त इति कामाः भोग्यभोगोपकरणादयः, ते परिशुद्धाः सर्वविधास्तस्य सन्तीत्यर्थः । सर्वगन्धः सर्वरसः—अशब्दमस्पर्शमित्यादिना प्राकृतगन्धरसादिनिषेधादप्राकृताः स्वासाधारणा निरवद्या निरतिशयाः कल्याणाः स्वभोग्यभूतास्सर्वविधा गन्धरसास्तस्य सन्तीत्यर्थः । सर्वमिदमभ्यात्तः—उक्तं रसपर्यन्तं सर्वमिदं कल्याणगुणजातं स्वीकृतवान् । अभ्यात्तः इति भुक्ता ब्राह्मणा इतिवत्कर्तरि क्तः प्रतिपत्तव्यः । अवाकी—वाकः उक्तिः; सोऽस्य नास्तीत्यवाकी । कुत इत्याह अनादर इति । अवाप्तसमस्तकामत्वेनादर्तव्याभावादादररहितः । अत एव अवाकी—अजल्पाकः,

परिपूर्णैश्वर्यत्वाद्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं निखिलं जगत्तृणी-कृत्य जोषमासीन इत्यर्थः । त एते विवक्षिता गुणाः परमात्मन्येवोपपद्यन्ते ॥ २ ॥

अनु०—विवक्षित गुणों का औचित्य भी परमात्मा में ही होने के कारण ब्रह्म शब्द वाच्य परमात्मा ही हैं । (अब प्रश्न यह उठता है कि जो कहने की इच्छा का विषय बने उसे विवक्षित कहते हैं । और आपौरूषेय वेद वाक्य के द्वारा प्रतिपादित किये जाने वाले परमात्मा के गुण पुरुषों की इच्छा के विषय नहीं बन सकते हैं । अतएव उन गुणों को विवक्षित पदसे सूत्र में कैसे कहा गद्दा गया है ? इसी अर्थ को हृदय में रखकर श्रीभाष्यकार स्वामी जी कहते हैं—) विवक्षित पद वक्ष्यमाण का वाचक है । अतएव वक्ष्यमाण गुणों का औचित्य परमात्मा में ही सिद्ध होता है । आगे के वाक्य में श्रुति परमात्मा के गुणों का वर्णन करती हुई कहती है—

'मनोमयः प्राण शरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः' इस श्रुति का मनोमयः शब्द बतलाता है कि परं ब्रह्म को सर्वथा शुद्ध मन के ही द्वारा जाना जा सकता है । अतएव विवेक, विमोक आदि (अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष रूप) साधन सप्तक से अनुगृहित तथा परमात्मा की उपासना से शुद्ध बने हुए मन के ही द्वारा ब्रह्म को जाना जाता है ।

इस मनोमय पद के द्वारा श्रुति परमात्मा के अखिल हेयप्रत्य-नीकत्व तथा अखिल कल्याण गुणों का एकमात्र आश्रय होने के कारण उनके स्वरूप का स्वेतर समस्त वस्तु विलक्षण रूप से प्रतिपादन करती है। क्योंकि मलिन मन वालों के द्वारा तो मलिन वस्तु का ही ग्रहण हो सकता है परमात्मा का नहीं।

श्रुति का प्राणशरीर :— पद बतलाता है कि परमात्मा संसार के सभी प्राणों का धारक (आश्रय) है। प्राण जिसका शरीर अर्थात् आधेय विधेय तथा शेष भूत हो उसे प्राण शरीर कहते हैं। हम आगे चलकर आरम्भणाधिकरण में प्रतिपादन करेंगे कि आधेयत्व, विधेयत्व एवं शेषत्व शरीर के प्रवृत्ति निमित्त (व्वहार के कारण) हैं। भारूपः—पद परमात्मा के भास्वर रूप को बतलाता है। क्योंकि परमात्मा का दिव्य, तथा उनमें ही केवल पाये जाने वाला सीमातीत कल्याण कारक दिव्य रूप होने के कारण वे अत्यन्त कान्ति युक्त हैं; सत्यसंकल्पः— पद परमात्मा के अप्रतिहत संकल्प को बतलाता है। आकाशात्मा—पद के द्वारा श्रुति बतलाती है कि परमात्मा आकाश के समान सूक्ष्म होने के कारण व्यापक तथा निर्मल हैं। अथवा अपने से भिन्न सभी वस्तुओं के कारण भूत आकाश की भी परमात्मा आत्मा है, यह आकाशात्मा पद बतलाता है। अथवा परमात्मा को आकाशात्मा कहने का अभिप्राय है कि परमात्मा स्वयं प्रकाशित होता है तथा स्वेतर समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करता है। सर्वकर्मा = पद का अभिप्राय है कि—जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं। अतएव

सम्पूर्ण जगत् जिसका कर्म है उसे सर्वकर्मा कहते हैं । अथवा सभी लौकिक क्रियाओं का चूंकि सद्धारक कर्ता परमात्मा ही है, अथवा सभी वैदिक क्रियाओंके द्वारा चूंकि परमात्मा कीही आराधना की जाती है अतएव वह सर्वकर्मा है । सर्वकाम:—जिन पदर्थों कीं कामना की जाय उन्हें काम शब्द से अभिहित किया जाता है । अतएव भोग्य पदार्थ, भोगके साधन आदि काम हैं । वे सभी प्रकार के दिव्य भोग्य एवं भोगोपकरण परमात्मा के ही है। अतएव परमात्मा सर्वकाम पदाभिधेय हैं। सर्वगन्धः सर्वरस–अशब्दम् स्पर्शम्' इत्यादि श्रुति परमात्माके प्राकृत गन्ध आदिका निषेध करती हैं अतएव परमात्मा दिव्यगन्ध एवं रसोंका असाधारण आश्रय है । इस तरह परमात्माके गन्धरस दोष रहित, सर्वोत्कृष्ट. कल्याणमय, तथा उसके भोग्य भूत हैं । सर्वमिदमभ्यात्तः—अर्थात् परमात्मा ने उपर्युक्त सभी रस पर्यन्त कल्याण गुणों को स्वीकार किया है । अभ्यात्तः पद में उसी प्रकार कर्ता अर्थ में क्त प्रत्यय समझना चाहिए जिस प्रकार 'भुक्ता ब्राह्मणाः' के भुक्तः पद में कर्ता के अर्थ में क्त प्रत्यय है । अवाकी—वाक् उक्ति को कहते हैं और उक्ति रहित को अवाकी कहेंगे , इसका कारण बतलाती हुई श्रुति अनादरः परमात्मा को बतलाती है । चूकि परमात्मा अवाप्त समस्त काम है अतएव किसी का आदर (चाहना) नहीं करता । अतएव वह आवाकी है । अर्थात् किसी से नहीं बोलता । परिपूर्ण ऐश्वर्य सम्पन्न होने के कारण

ब्रह्म से लेकर एक स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् को तुच्छ मानकर चुपचाप ब्रह्म आसीन है। यह श्रुति का अर्थ हुआ। श्रुति के द्वारा विवक्षित इन सभी गुणों की उपपत्ति परमात्मा में ही होती है।

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः । १ । २ । ३ ॥

मूल—तमिमं गुणसागरं पर्यालोचयतां खद्योतकल्पस्य शरीरसंबन्धनिबन्धनापरिमितदुःखसंबन्धयोग्यस्य बद्धमुक्तावस्थस्य जीवस्य प्रस्तुतगुणलेशसंबन्धगन्धोऽपि नोपपद्यत इति नास्मिन् प्रकरणे शरीरपरिग्रहशङ्का जायत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अनु०— उपर्युक्त गुणों के उपपन्न न हो सकने के कारण बद्धमुक्त उभयावस्थावस्थित जीव को शारीर [आत्मा] नहीं माना जा सकता है।

गुणों के सागर उस प्रसिद्ध परमात्मा का पर्यालोचन करने वाले विचारकों को, जुगनू के समान शरीर सम्बन्ध के कारण असीमित दुःख पाने के योग्य, बद्धावस्था एवं मुक्तावस्था में रहने वाले जीव का प्रस्तुत (मनोमयत्व, प्राणशरीरत्व आदि गुणों के लेश का भी सम्बन्ध नहीं हो सकता है; अतएव इस (सर्वं खल्विदं ब्रह्म के) प्रकरण में जीव को आत्मा रूप

से स्वीकार करने की शंका नहीं हो सकती है।

टिप्पणी—प्रश्न यह उठता है कि परमात्मा ही प्राणमयत्व आदि गुणों का एक मात्र आश्रय कैसे हो सकता है ? क्योंकि ये सभी गुण मुक्त जीवों में भी हो सकते हैं। इस शंका का समाधान करने के लिए 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' यह सूत्र अवतरित होता है। इस सूत्र का शारीर शब्द शरीरमस्तिअस्य इस विग्रह के अनुसार आत्मा तथा शरीर को बतलाता है। इस सूत्र का अभिप्राय है कि उपर्युक्त गुण जीवों में नहीं पाया जा सकता है। क्योंकि बद्ध जीव तो उपर्युक्त गुणों के आश्रय हो नहीं सकते हैं, क्योंकि उनका असत् संकल्पत्व, कर्मपराधीनत्व इत्यादि प्रसिद्ध ही है। मुक्त जीव भी इस प्रकरणमें ब्रह्म शब्द वाच्य इसलिए नहीं हो सकता है कि जिस तरह बद्ध जीव निग्राहक सापेक्ष होकर निगृहीत हुआ करते हैं उसी तरह मुक्त नित्य जीव भी अनुग्राहक सापेक्ष होकर ही अनुगृहीत होते हैं। इस तरह बद्ध जीवों का निग्राहक तथा मुक्त जीवों का अनुग्राहक एक मात्र परमात्मा ही है। अतएव सर्वात्मा परमात्मा ही है कोई जीव नहीं।

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च । १ । २ । ४ ॥

मूल—*एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति प्राप्यतया परं ब्रह्म व्यपदिश्यते, प्राप्तृतया च जीवः अतः प्राप्ता जीव

उपासकः, प्राप्यं परं ब्रह्मोपास्यमिति प्राप्तुरन्यदेवेद-मिति विज्ञायते ॥ ४ ॥

अनु०—छान्दोग्योपनिषद् के 'एतमितः प्रेत्याभिसंभावितास्मि' इस श्रुति में उपास्य [कर्म] परमात्मा और उपासक [कर्ता] का भेद श्रुति में बतलाये जाने के कारण भी यहां पर शारीर [सर्वात्मा] परमात्मा हीहै। यह सूत्रार्थ हुआ।

छान्दोग्योपनिषद् की 'इस संसार का त्याग करके परमात्मा को प्राप्त करने वाला हूँ [छा० ३।१४।४] इस श्रुति में प्राप्य रूप से परं ब्रह्म को बतलाया गया है और प्रापक रूप से जीव को बतलाया गया है। अतएव प्राप्त करने वाला जीव उपासक है और प्राप्य परं ब्रह्म उपास्य है। इसलिए प्राप्त करने वाले जीव से प्राप्य ब्रह्म भिन्न ही है। यह पता चलता है।

शब्दविशेषात् । १ । २ । ५ ॥

मूल—*एष म आत्माऽन्तर्हृदये इति शारीरष्षष्ठया निर्दिष्टः; उपास्यस्तु प्रथमया। एवं समानप्रकरणे वाजिनां च श्रुतौ शब्दविशेषश्श्रूयते जीवपरयोः, यथा *व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वा एवमय-मन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयो यथा ज्योतिरधूमम् इति। अत्र*अन्तरात्मन्निति सप्तम्यन्तेन शारीरो निर्दिश्यते;

***पुरुषो हिरण्मयः इति प्रथमयोपास्यः। अतः पर एवोपास्यः ॥**

अनु०—शब्द विशेष के कारण भी आत्मा और सर्वात्मा परमात्मा में भेद प्रतीत होता है। 'एष आत्माऽन्तर्हृदये' इस श्रुति में शरीरधारी जीवात्मा का षष्ठ्यन्त पद 'मे' के द्वारा निर्देश दिया गया है और उपास्य परमात्मा का प्रथमान्त पद के द्वारा निर्देश किया गया है। उसी तरह इसके सदृश प्रकरण वाले वाजियों की श्रुति शतपथ ब्राह्मण में भी दोनों जीवात्मा और परमात्मा के निर्देश में शब्द भेद देखा जाता है। जैसे- 'धान' यव, सांवा; अथवा सांवा के चावल के ही समान आत्मा के भीतर में यह हिरण्यमय पुरुष (परमात्मा) धूम रहित ज्योति के समान विद्यमान है। इस श्रुतिमें 'अन्तरात्मन्' इस सप्तम्यन्त पद के द्वारा शरीरी जीवात्मा का निर्देश किया गया है और 'पुरुषो हिरण्मयः' इस प्रथमान्त पद के द्वारा उपास्य परमात्मा का निर्देश किया गया है। अतएव परमात्मा ही उपास्य है।

टिप्पणी-- अन्तरात्मन् पद सप्तम्यन्त है। क्योंकि आत्मनि इस सप्तमी के अर्थ में 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादि पाणिनीय सूत्र के अनुसार अन्तर इस अव्यय पद के साथ समास हो जायेगा। और विभक्ति का लुक् होकर अन्तरात्मन् पद आत्मा के भीतर के अर्थ में बनेगा।

मूल—इतश्च शारीरादन्यः—

स्मृतेश्च । १ । ६ ॥

*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च *यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् *ईश्वरस्सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया । तमेव शरणं गच्छ इति शारीरमुपासकं, परमात्मानं चोपास्यं स्मृतिर्दर्शयति ॥ ६ ॥

अनु०— इसलिये भी शरीरी जीवात्मा से परमात्मा भिन्न है कि स्मृतियाँ भी आत्मा से परमात्मा की भिन्नता बतलाती हैं। (गीता १५।१५) में भगवान कहते हैं कि— हे अर्जुन मैं सभी प्राणियों के हृदय में प्रविष्ट हूं और मेरे ही अधीन जीवों को स्मरण, ज्ञान और विस्मरण हुआ करते हैं। (गी० १५। १९) में भगवान् बतलाते हैं कि— ज्ञानी प्राणी मुझे इस तरह से (पुरुषोत्तम) रूप से जानते है। (गी० १८।१) में भगवान् कहते हैं कि— हे अर्जुन सभी जीवों के हृदय में परमात्मा का निवास है। और वह आन्त्याश्रय देह नामक यन्त्रारूढ सभी जीवों को सदा नचाता रहता है। अतएव हे अर्जुन ! उसी परमात्मा की शरण में जाओ। ये सभी स्मृति वाक्य शरीरधारी जीवात्मा को उपासक तथा परमात्मा को उपास्य बतलाते हैं।

टिप्पणी— उपर्युक्त (गीता १५।१५) वाक्य में प्रयुक्त

सर्व शब्द जीवों का वाचक है, क्योंकि जीवात्मा स्मरण इत्यादि कार्य को परमात्मा के परतन्त्र रह कर किया करता है। और यहीं पर यह बतलाया गया है कि पुरुषोत्तम शब्दाभिधेय परमात्मा क्षर और अक्षर दोनों प्रकार के जीवों से श्रेष्ठ होने के कारण सभी जीवों से विलक्षण हैं। ईश्वरः सर्वभूतानां का सर्वभूत शब्द भी जीवों का ही वाचक है।

मूल—अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च। १। २। ७॥

अल्पायतनत्वमर्भकौकस्त्वम्. तद्व्यपदेशः। ❀एष म आत्माऽन्तर्हृदये इत्यणीयसि हृदयायतने स्थितत्वात् ❀अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा इत्यादिनाऽणीयस्त्वस्य स्वरूपेण व्यपदेशाच्च नायं परमात्मा, अपि तु जीव एव, ❀सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः इत्यादिभिः परमात्मनोऽपरिच्छिन्नत्वावगमात्, जीवस्य चाराग्रमात्रत्वव्यपदेशादिति चेत्।

नैतदेवम्, परमात्मैव ह्यणीयानित्येवं निचाय्यत्वेन व्यपदिश्यते; एवं निचाय्यत्वेन— एवं द्रष्टव्यत्वेन; एवमुपास्यत्वेनेति यावत्। न पुनरणीयस्त्वमेवास्य स्वरूपमिति। व्योमवच्चायं व्यपदिश्यते— स्वाभाविकं

महत्त्वं चात्रैव व्यपदिश्यते—ज्यायान् पृथिव्या ज्यायाऽ-न्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य इति। अत उपासनार्थमेवाल्पत्वव्यपदेशः।

अनु०—शारीर के अल्पायतनत्व तथा स्वरूपतः अल्पत्व को श्रुतियों के द्वारा बतलाये जाने के कारण वह परमात्मा न होकर जीव ही है, तो यह भी शंका ठीक नहीं, क्योंकि उपासना के ही लिए श्रुतियां परमात्मा को स्वरूपतः अल्प तथा अल्पायतन बतलाती हैं। शारीर [आत्मा] के हृदय गुफारूपी उत्तम निवास स्थान को सूत्र का अर्भकौकस्त्व शब्द बतलाता है। और स्वरूपतः शारीर के अल्पत्व व्यपदेश को सूत्र का तद्व्यपदेश पद बतलाता है। छान्दोग्योपनिषद् की 'एष म आत्मान्तर्हृदये' यह श्रुति बतलाती है कि शारीर [आत्मा] से हृदय रूपी गुफा (गृह) में स्थित है। तथा— 'अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा' यह श्रुति शारीर को व्रीहि एवं यव से भी अल्पतर बतलाती हुई उसे स्वरूपतः अल्पत्व का प्रतिपादन करती है। अतएव यह परमात्मा नहीं हो सकता। अपितु वह जीव ही है, क्योंकि परमात्मा के अपरिच्छिन्नत्वका प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है कि जो परमात्मा सबों में व्याप्त होने के कारण सर्वगत, ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय आदि का अविषय होने के कारण तथा विशुद्ध मन के ही द्वारा केवल गृहीत होने के योग्य सुसूक्ष्म है, उसमें कोई भी स्वरूपतः विकार नहीं होता, और ज्ञानी जन जिसे सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र

कारण रूप से जानते हैं।' और श्रुतियां स्वयं जीव को आर के अग्र भाग के समान अल्प बतलाती हैं। अतएव उपर्युक्त शारीर शब्दाभिधेय परमात्मा नहीं हो सकता है। तो पूर्वपक्षी का यह कथन उचित नहीं है—क्योंकि द्रष्टव्य रूप से यानी उपास्य रूप से परमात्मा को ही अणीयान् [अल्पतर] श्रुति बतलाती है। किन्तु परमात्मा में स्वरूप अल्पतरत्व ही नहीं है क्योंकि श्रुतियाँ उसे विस्तृत आकाश के समान महत्तर बतलाती है। परमात्मा का ही स्वाभाविक महत्त्व बतलाती हुई श्रुतियाँ कहती हैं कि— परमात्मा पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा इन सभी लोकों से महान है। अतएव उपासना के ही लिए श्रुतियां परमात्मा को अल्पतर बतलाती हैं।

मूल—तथाहि *सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीतेति सर्वोत्पत्तिप्रलयकारणत्वेन सर्वस्यात्मतयाऽनुप्रवेशकृतजीवयितृत्वेन च सर्वात्मकं ब्रह्मोपासीतेत्युपासनं विधाय *अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवतीति यथोपासनं प्राप्यसिद्धिमभिधाय *स क्रतुं कुर्वीतेति गुणविधानार्थमुपासनमनूद्य *मनोमयः प्राणशरीरो भारूपस्सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामस्सर्वगन्धस्सर्वरसस्सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः इति जगदैश्वर्यविशिष्टस्य

स्वरूपगुणांश्चोपादेशान् प्रतिपाद्य *एष म आत्माऽन्त-र्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा इत्युपासकस्य हृदयेऽणीयस्त्वेन तदा-त्मतयोपास्यस्य परमपुरुषस्योपासनार्थमवस्थानमुक्त्वा *एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान-न्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यस्सर्वकर्मा सर्वकामस्सर्वगन्धस्सर्वरसस्सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः इत्यन्तर्हृदयेऽवस्थितस्योपास्यमानस्य प्राप्याकारं निर्दिश्य *एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्म इत्येवंभूतं परं ब्रह्म परमकारुण्येनास्मदुज्जिजीवयिषयाऽस्मद्धृदये सन्निहितमि-तीदमनुसन्धानं विधाय *एतमितः प्रेत्याभिसंभविता-ऽस्मीति यथोपासनं प्राप्तिनिश्चयानुसन्धानं च विधाय *इति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीत्येवंविधप्राप्य प्राप्तिनिश्चयोपेतस्योपासकस्य प्राप्तौ न संशयोऽस्तीत्युप-संहृतम् । अत उपासनार्थमर्भकौकस्त्वमणीयस्त्वं च ।७।

अनु०—ऊपर्युक्त अर्थ की सिद्धि निम्न प्रकार से होती है—' यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है । शान्त होकर उसकी [जगत् की] सृष्टि, संहार और पालन रूप से उपासना करे' यह श्रुति

सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि एवं प्रलय के कारण रूप से, और सबों की आत्मा रूप से प्रविष्ट होने के कारण जीवों का रूप से सर्वात्मक ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए, इस तरह उपासना का विधान करके, 'निश्चय ही पुरुष क्रतु [उपासना] मय है, पुरुष (जीव) इस लोक में जैसी उपासना करता है, देहपात के पश्चात् वैसा ही होता है। ।' इस श्रुति के द्वारा उपासना के अनुसार प्राप्ति की सिद्धि को बतलाकर, ' अतएव रूप की उपासना करनी चहिए ' इस श्रुति के द्वारा गुणों का विधान करने के लिए उपासना का अनुवाद करके, ' साधन सप्तका अनुगृहीत तथा उपासना के द्वारा शुद्ध मन के द्वारा ही जानने योग्य अन्तर्यामी, स्वयंप्रकाश, सत्यसंकल्प, आकाश के सदृश व्यापक सभी कर्मों के प्रेरक, दिव्य एवं परिशुद्ध भोग्य भोगोपकरणादिसम्पन्न, दिव्य एवं परिशुद्ध रसों तथा गन्धों युक्त परमात्मा ने इस सम्पूर्ण गुण समूह को स्वीकार किया अवाप्त समस्त काम होने के कारण किसी वस्तु की स्पृहा न करने से सम्पूर्ण जगत् को तृणवत् अनादरणीय मानकर उदासीन आत्मा अवस्थित हैं' इस श्रुति के द्वारा जगत् के सम्पूर्ण ऐ यों से विशिष्ट परमात्मा के उपादेय गुणों तथा स्वरूप का पादन करके –' यह हृदय के भीतर रहने वाला परमात्मा , यव, सरसों, सांवा तथा साँवा के चावल से भी छोटा है ' श्रुति के द्वारा उपासक के हृदय में अल्पतर रूप से उ क की आत्मा रूप से उपासना करने के लिए परम पुरुष स्थिति

को बतलाकर, ' यह मेरे हृदय में आत्मा रूप से विद्यमान परमात्मा पृथिवी, अन्तरिक्ष द्युलोक तथा इन सभी लोकों से महान् है, वह सभी क्रियाओं का प्रेरक, सभी दिव्य गन्धों एवं रसों से परिपूर्ण जगत् से निस्पृह तथा उदासीन है ।, इस श्रुति के द्वारा हृदय के भीतर विद्यमान उपास्यमान परमात्मा के प्राप्य आकारों का निर्देश करके 'यह ब्रह्म मेरे हृदय में मेरी आत्मा रुप से विद्यमान है, इस श्रुति के द्वारा उपर्युक्त प्रकारक परम ब्रह्म करुणा करके हमारा कल्याण करने की इच्छा से हमारे हृदय में प्रविष्ट हैं, इस प्रकार के अनुसन्धान का बिधान करके, 'मृत्यु के पश्चात इस परं ब्रह्म को मैं प्राप्त करने वाला हूँ ।' इस श्रुति के द्वारा उपासना के अनुसार निश्चय ही फल की प्राप्त होगी, इस तरह के अनुसन्धान का विधान करके, 'इस प्रकार से जिसको निश्चय हैं । निश्चय ही उसको परमात्मा की प्राप्ति में कोई सन्देह नहीं है । (छा० १।१४।४) इस श्रुति के द्वारा उपसंहार किया गया है कि जिस उपासक को उपर्युक्त प्रकार के प्राप्य भूत परमात्मा की प्राप्ति में कोई सन्देह नहीं है । अतएव श्रुति में परमात्मा के आयतन (निवास स्थान) के अल्पतरत्व, तथा उसके रुप के अल्पत्व का निर्देश उसकी [परमात्मा की] उपासना के लिए करती है ।

मूल-संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ।१।२।८।।

जीवस्येव परस्यापि ब्रह्मणश्शरीरान्तर्गतित्वमभ्युपगतं

चेत्, तद्वदेव शरीरसंबन्धप्रयुक्तसुखदुःखोपभोगप्राप्तिः रिति चेत्. तन्न, हेतुवैशेष्यात्—नहि शरीरान्तर्वतित्वं मेव सुखदुःखोपभोगहेतुः; अपि तु पुण्यपापरूपकर्मपर-वशत्वम्, तत्त्वपहतपाप्मनः परमात्मनो न संभवति । तथा च श्रुतिः *तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतीति इति ॥८॥

अनु०- यदि यह कहा जाय कि शरीरान्तवर्ती मानने पर परमात्मा को भी उसी तरह से सुख दुःख आदि का उपभोक्ता मानना होगा, जिस तरह की शरीरान्तर्वर्ती जीवात्मा सुखादि का भोक्ता है, तो यह कहना उचित न होगा क्योंकि सुखादि का उपभोक्ता जीव पुण्य पापादि कर्मों के बन्धन के कारण होता है; कर्मों के बन्धन में नहीं रहने वाला परमात्मा सुखादि का उपभोक्ता कैसे हो सकता है ? यह सूत्र का अर्थ हुआ ।

यदि जीव के ही समान परं ब्रह्म को भी शरीरान्तर्वर्ती माना गया तो फिर वह जीव के ही समान शरीर सम्बन्ध के कारण सुख दुःख आदि का उपभोक्ता होगा । तो यह कहना उचित नहीं है । क्योंकि हेतु वैशेष्यात्— अर्थात् शरीरान्तवर्ती होना ही सुख दुःख भोगने का कारण नहीं है, बल्कि पुण्य पाप रूपी कर्मों के पराधीन होना ही उसका कारण है । परमात्मा

तो कर्मों के परतन्त्र हैं नहीं, क्योंकि श्वेताश्वतर श्रुति बतलाती है कि 'उन दोनों [जीवात्मा एवं परमात्मा] में से एक [परमात्मा] के फल का उपभोग किये बिना ही देदिप्यमान रहता है ।

अत्रधिकरण का प्रारम्भ

मूल–यदि परमात्मा न भोक्ता, एवं तर्हि सर्वत्र भोक्तृ. तया प्रतीयमानो जीव एव स्यादित्याशङ्कयाह–

अत्ता चराचरग्रहणात् ।१।२।९।।

कठवल्लीष्वाम्नायते * यस्य ब्रह्म चा क्षत्रं चा उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचानं क इत्था वेद यत्र सः । इति । अत्रोदनोपसेचानसूचितोऽत्ता किं जीव एव, उत परमात्मेति सन्दिह्यते । किं युक्तम् ? जीव इति । कुतः ? भोक्तृत्वस्य कर्मनिमित्तत्वाज्जीवस्यैव तत्संभवात् ।

अनु०– अब प्रश्न यह उठता है कि यदि परमात्मा कर्मों के फलों का भोक्ता नहीं है तो फिर सब जगह जहाँ कहीं भी भोक्ता रूप से जिसकी प्रतीति होती है वह जीव ही होगा, यह शंका करके कहते है–

अत्ता चराचर ग्रहणात् – ।।१।२।६।।

अर्थात्- यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च इत्यादि श्रुति में प्रतीयमान भोक्ता परमात्मा ही है क्योंकि चराचर का भोक्ता परमात्मा ही हो सकता है। (कठवल्ली १।२।२५) में यह आम्नान किया गया है कि— जिसका ब्रह्म क्षत्रात्मक सम्पूर्ण जगत् ओदन (भातरूपी भोग्य विशेष) तथा मृत्यु उपसेचन [दाल] का काम करती है, उसको कौन जानता है?' इस श्रुति में भात और दाल से सूचित चराचरात्मक जगत् का भोक्ता क्या जीव है? अथवा परमात्मा? यह शंका होती है। क्या मानना ठीक है? पूर्वपक्षी का कहना है कि वह जीव है? क्योंकि—भोक्तृत्व धर्म कर्मजन्य ही होता है। अतएव वह जीव में ही सम्भव है (क्योंकि जीव ही कर्म फलों का भोक्ता होता है, परमात्मा नहीं।)

मूल-अत्रोच्यते- अत्ता चराचरग्रहणात्। अत्ता परमात्मैव। कुतः? चराचरग्रहणात्-चराचरस्य कृत्स्नस्यात्तृत्वं हि तस्यैव संभवति। न चेद कर्मनिमित्तं भोक्तृत्वम्, अपि तु जगज्जन्मस्थितिलयहेतुभूतस्य परस्य ब्रह्मणो विष्णोस्संहर्तृत्वम्, *सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् इत्यत्रैव दर्शनात्। तथा च *मृत्युर्यस्योपसेचनमिति वचनात्; ब्रह्म च क्षत्रं चेति कृत्स्नं चराचरं जगदिहादनीयौदनत्वेन

गृह्यते । उपसेचनं हि नाम स्वयमद्यमानं सदन्यस्यादन-हेतुः । अत उपसेचनत्वेन मृत्योरप्यद्यमानत्वात्तदुपसिच्यमानस्य कृत्स्नस्य ब्रह्मक्षत्रपूर्वकस्य जगतश्चराचरस्यादनमत्र विवक्षितमिति गम्यते । ईदृशं चादनमुपसंहार-एव । तस्मादीदृशं जगदुप संहारित्वरूपं भोक्तृत्वं परमात्मन एव ॥ ९ ॥

उपर्युक्त प्रकार का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सिद्धान्त को बतलाया जाता है । अत्ता चराचर ग्रहणात् । अत: भोक्ता परमात्मा ही है; क्योंकि सम्पूर्ण चराचर का उपभोक्ता परमात्मा ही हो सकता है । यह चराचर का भोक्तृत्व कर्मजन्य नहीं हो सकता है, अपितु संसार की सृष्टि, स्थिति और लय के हेतुभूत परं ब्रह्म विष्णु का ही संहार कर्तृत्व निम्न इस प्रकरण की श्रुति बतलाती है । वह है— वह उस अर्चिरादि मार्ग के अन्त में परमात्मा के उस श्रेष्ठ पद (वैकुण्ठ लोक) को प्राप्त करता है ।' और 'मृत्यु जिसके 'उपसेचन का कार्य करती है' इस श्रुति में– ब्रह्म और क्षत्र शब्द के द्वारा सम्पूर्ण चराचर का भोक्तव्य ओदन रूप से ग्रहण होता है । उपसेचन उसे कहते हैं जो स्वयं खाया जाता हुआ दूसरे के खाये जाने का का कारण बने । (उपसेचन दाल को कहते हैं– जिस तरह खाने वाला दाल को तो खाता ही है किन्तु उसी दाल के सहारे वह भात को भी खा जाता है ।) अतएव उपसेचन कहे जाने से स्वयं मृत्यु भी परमा माका भक्ष्य है । इसलिए उसके द्वारा उपसिच्यमान

सम्पूर्ण ब्रह्म क्षत्रात्मक चराचर जगत् का भोजन यहाँ पर विवक्षित है- यह ज्ञात होता है। और इस प्रकार भोजन उपसंहार [लय] ही कहलाता है। अतएव इस प्रकार का उपसंहार कर्तृत्व रूप भोक्तृत्व परमात्मा का ही धर्म हो सकता है।

प्रकरणाच्च । १ । २ । १० ॥

मूल—प्रकरणं चेदं परस्यैव ब्रह्मणः– *महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति *नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ इति हि प्रकृतम् *क इत्था वेद यत्र सः इत्यपि हि तत्प्रसादादृते तस्य दुरवबोधत्वमेव पूर्वप्रस्तुतं प्रत्यभिज्ञायते ॥ १० ॥

अनु०—प्रकरण के कारण भी यह भोक्तृत्व परमात्मा का ही धर्म हो सकता है। क्योंकि यह प्रकरण भी परं ब्रह्म का ही चल रहा है। कठोपनिषद् की 'महान्तं विभुमात्मानं मत्वाधीरो न शोचति' श्रुति बतलाती है कि—उस गुणतः एवं स्वरूपतः महत्त्व गुण सम्पन्न व्यापक परमात्मा का मनन करके ब्रह्मज्ञानी शोक से मुक्त हो जाता है।' इसी प्रकरण की एक दूसरी श्रुति बतलाती है कि परमात्मा की प्राप्ति प्रवचन फलक निदिध्यासन से नहीं हो सकती हैं, न तो मनन से और न तो बहुत श्रवण करने से ही। यह परमात्मा जिसको स्वयं वरण

कर लेता है, उसी के द्वारा प्राप्त हो सकता है, और उसी के लिए यह अपना अखिल कल्याण गुणगणाकर रूप सम्पन्न अपने दिव्य मंगल विग्रह को अभिव्यक्त कर देता है। यही प्रस्तुत प्रकरण है। 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च' इस श्रुति का 'क इत्था वेद यत्र सः' यह अंश बतलाता है कि— 'परमात्मा की कृपा के बिना जिस रूप से परमात्मा मृत्यु के साथ इस सम्पूर्ण जगत् को खा लेता है, उसे कौन जान सकता है? अर्थात् कोई नहीं। अतएव यह श्रुति भी पूर्व प्रस्तुत दुख-बोधत्व को बतलाती है ॥ १० ॥

मूल-अथ स्यात्—नायं ब्रह्मक्षत्रौदनसूचितः पुरुषोऽपहतपाप्मा परमात्मा, अनन्तरम् *ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ इति कर्मफलभोक्तुरेव सद्वितीयस्याभिधानात्। द्वितीयश्च प्राणो बुद्धिर्वा स्यात्। ऋतपानं हि कर्मफल भोग एव; स च परमात्मनो न संभवति; बुद्धिप्राणयोस्तु भोक्तुर्जीवस्योपकरणभूतयोर्यथा कथञ्चित्पानेऽन्वयस्संभवतीति तयोरन्यतरेण सद्वितीयो जीव एव प्रतिपाद्यते। तदेकप्रकरणत्वात्पूर्वप्रस्तुतोऽत्ताऽपि स एव भवितुमर्हतीति।

अनु०—यदि पूर्वपक्षी यह शंका करें कि प्रस्तुत श्रुति में ब्रह्म क्षत्ररूपी ओदन तथा उसके भोक्ता द्वारा सूचित कर्मों के बन्धन से रहित परमात्मा नहीं हो सकते हैं। क्योंकि इसके बाद में आने वाली (क० १।३।२) श्रुति बतलाती है कि—'कर्मों के फलों को भोगने के लिये बुद्धि और जीव प्रवेश करके शरीर के भीतर उत्तम स्थान में छाया और आतप के समान विद्यमान है, इस बात को ब्रह्मवेत्ता, पञ्चाग्नियां तथा तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करने वालों का कहना है।' इस श्रुति में सद्वितीय कर्मफलों के भोक्ता जीव को ही बतलाया गया है। जीव के साथ रहने वाला दूसरा प्राण अथवा बुद्धि हो सकती है। ऋत पान कर्म के फलों के भोग को ही कहा गया है। और कर्म के फलों का भोक्ता परमात्मा नहीं हो सकता है। और बुद्धि तथा प्राण तो भोक्ता जीव के उपकरण हैं अतएव किसी प्रकार उनका पान (कर्म फल भोग) में सम्बन्ध हो सकता है। अतएव उन दोनों में से किसी से ही युक्त जीव को सद्वितीय रूप से श्रुति प्रतिपादित करती है। उन दोनों का प्रकरण एक होने अथवा पूर्व प्रस्तुत होने के कारण चराचर का भोक्ता जीव ही हो सकता है।

टिप्पणी—ऋतंपिवन्तौ श्रुति के अर्थ का जीव परक वर्णन पूर्वपक्षी के मतानुसार अनुवाद में किया गया है। इस श्रुति का सिद्धान्तानुसारी अर्थ इस प्रकार है—छाया के समान अल्पज्ञ उपासक जीव तथा आतप के समान सर्वज्ञ परमात्मा इस

मानव शरीर में ही; प्रवेश करके अत्युत्तम हृदय गुफारूपी स्थान में विद्यमान हैं। जीवात्मा अपने कर्मों के फल का भोग करने के लिए शरीर में प्रविष्ट है तथा परमात्मा अन्तर्यामी रूप से अपने सत्य संकल्प जन्य लीला रस का अनुभव करने के लिए प्रविष्ट है। इस बात को ब्रह्मवेत्ता पञ्चाग्नियां तथा तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाले लोग बतलाते हैं। प्रस्तुत श्रुति का अभिप्राय है कि यद्यपि उपास्य परमात्मा उपासक जीव के हृदय में विद्यमान है, फिर भी वह अपने उपास्य परमात्मा को नहीं पहचान पाता है। पहले की बल्ली में तीन बार नाचिकेत अग्निके चयन को मोक्ष प्राप्तिका साधकतम बतलाया गया है अतएव त्रिणाचिकेत शब्द से उक्त साधन को अपनाने वाले आप्त पुरुषों का ही निर्देश किया गया है। श्रुति में निर्दिष्ट पञ्चाग्नियाँ निम्न हैं—गार्हपत्य अग्नि, दक्षिणाग्नि, आहवनीयाग्नि, सभ्याग्नि तथा आवसथाग्नि।

मूल—तत्रोच्यते—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्। १।२।११॥

न प्राणजीवौ बुद्धिजीवौ वा गुहां प्रविष्टावृतं पिबन्तावित्युच्येते; अपि तु जीवपरमात्मानौ हि तथा व्यपदिश्येते। कुतः? तद्दर्शनात्। अस्मिन् प्रकरणे जीवपरयोरेव गुहाप्रवेशव्यपदेशो दृश्यते। परमात्मन-

स्तावत् ॐऋत दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति । इति । जीवस्यापि ॐया प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत । इति । कर्मफलान्यत्तीत्यदितिर्जीव उच्यते । प्राणेन संभवति— प्राणेन सह वर्तते । देवतामयी—इन्द्रियाधीनभोगा । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती-हृदयपुण्डरीकोदरवर्तिनी । भूतेभिर्व्यजायत— पृथिव्या-दिभिर्भूतैस्सहिता देवादिरूपेण विविधा जायते । एवं च सति *ऋतं पिबन्ताविति व्यपदेशः छत्रिणो गच्छन्तीतिवत्प्रतिपत्तव्यः । यद्वा—प्रयोज्यप्रयोजकरूपेण पाने कर्तृत्वं जीवपरयोरुपपद्यते ।११।

अनु०—उपर्युक्त प्रकार का पूर्वपक्ष उपस्थित होनेपर सूत्रकार कहते हैं—'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ १।२।११ ॥' अर्थात् श्रुति में हृदय गुफा में जीवात्मा एवं परमात्मा ही प्रवि-ष्ट रूप से बतलाये गये हैं क्योंकि इस प्रकरण में उन दोनों को ही हृदय गुफा में प्रविष्ट रूप से श्रुति में प्राण जीव अथवा बुद्धि एवं जीव ऋत का पान करने में प्रविष्ट नहीं बतलाये गये हैं। बल्कि उक्त प्रकार से जीवात्मा एवं परमात्मा को ही बत-

लाया गया है। क्योंकि—'तद्दर्शनात्' अर्थात् इस कठोपनिषद् के प्रकरण में जीवात्मा एवं परमात्मा का ही हृदय गुफा में प्रवेश देखा जाता है। परमात्मा के प्रवेश का प्रतिपादन करती हुई (क० १।२।१२) श्रुति कहती है कि—उपर्युक्त श्रवण आदि के द्वारा अलभ्य होने के कारण दुर्दर्श, अपनी दैवी गुणमयी मायारूपी जवनिका में छिपे हुये सम्पूर्ण जगत् में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान हृदय रूपी गुफा में छिपे हुये हृदयरूपी अति संकीर्ण हृदय प्रदेश में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट अथवा ब्रह्मादि के लिए भी दुष्प्रदेश वैकुण्ठ लोक में रहने वाले, सम्पूर्ण जगत् के एकमात्र अभिन्न निमित्तोपादान कारण होने के कारण पुराण (क्योंकि कारण कार्य की अपेक्षा पुराना होता है।) तथा अध्यात्म योग के द्वारा प्राप्य परमात्मा का मनन करके ब्रह्मज्ञानी वैषयिक हर्ष एवं शोक का परित्याग कर देता है।

जीव के भी हृदय गुफा में प्रवेश का समर्थन निम्न श्रुति करती है—

या प्राणेन संभवत्यदिति र्देवता मयी।
गुहाँ प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत॥
(क० उ० ७।१।७)

इस श्रुति का अर्थ इस प्रकार है—जो कर्म के फलों का भोक्ता है वह जीव ही अदिति शब्द से कहा गया है। प्राणेन संभवति—वह प्राण के साथ विद्यमान है। देवतामयी— और

वह इन्द्रियों के अधीन रहकर भोग करता है। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तौ—हृदय कमल के भीतर उसका निवास है। पृथिवी आदि भूतों से संयुक्त होकर वह देव आदि अनेक रूपों को धारण करता है।

इस तरह ऋतं पिबन्तौ का अर्थ— 'छत्रिणो यान्ति' न्याय से परमात्म परक भी समझना चाहिये। (यदि कहें कि छत्रिणो यान्ति न्याय को मानने पर तो लाक्षणिक अर्थ को स्वीकार करना होगा। तो मुख्यार्थ को देखें। जिसे यद्वा इत्यादि वाक्य के द्वारा कहा जारहा है।) अथवा कर्म फलों के भोग में भोक्ता जीव का प्रेरक रूप से श्रुति परमात्मा को बतलाती हैं।

विशेषणाच्च । १ । २ । १२ ।

मूल—अस्मिन् प्रकरणे जीवपरमात्मानावेवोपास्यत्वोपासकत्व प्राप्यत्वप्राप्तृत्वविशिष्टौ सर्वत्र प्रतिपाद्येते। तथाहि—*ब्रह्म जज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति इति। ब्रह्मजज्ञो जीवः, ब्रह्मणो जातत्वात् ज्ञत्वाच्च। तं देवमीड्यं विदित्वा—जीवात्मानमुपासकं ब्रह्मात्मकत्वेनावगम्येत्यर्थः। तथा * यस्सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्। अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि। इत्युपास्यः परमात्मोच्यते। नाचिकेतम्—

णाचिकेतस्य कर्मण: प्राप्यमित्यर्थः। *आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव चेत्याक्तिनोपासको जीव उच्यते। तथा *विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नर:। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्। इति प्राप्यप्राप्तारावभिधीयेते जीवपरमात्मानौ। इहापि *छायातपावित्यज्ञत्वसर्वज्ञत्वाभ्यां तावेव विशिष्य व्यपदिश्येते।

अनु०—इस प्रकरण में उपास्य एवं प्राप्य रूप से परमात्मा तथा प्रापक एवं उपासक रूप से जीव ही सर्वत्र प्रतिपादित किये गये हैं। (क० १।१।१८) श्रुति बतलाती है कि—ध्यान योग के द्वारा स्वस्वरूप एवं पूज्य देव परमात्मा के स्वरूप को जानकर उपासक आत्यन्तिकी शान्ति को प्राप्त करता है। ब्रह्मजन्य तथा ज्ञाता होने के कारण जीव को ब्रह्मजज्ञ शब्द से श्रुति अभिहित करती है। देवमिड्यं पद उपास्य परमात्मा को बतलाता है। उपासक जीवात्मा को ब्रह्मात्मक रूप से जानकर (सर्वोच्च शान्ति को उपासक प्राप्त करता है, यह श्रुति का अभिप्राय है।) तथा कठोपनिषद् की (१।३।२) श्रुति परमात्मा को उपास्य बतलाती हुई कहती है— जो यज्ञीय: कर्मों का फल प्रदाता है, तथा जो निर्विकार ब्रह्म है, संसार सागर को पार करने की इच्छा वालों के लिए दृढनाव है, उस नाचिकेत अग्नि के द्वारा उपास्य परमात्मा की उपासना करने में हम समर्थ हैं।'

इस श्रुति का नाचिकेतम्-पद नाचिकेत अग्नि के कर्मों के द्वारा उपास्य परं ब्रह्म को बतलाता है। (क० श्रुति-१।३।३) आत्मा को सारथी तथा शरीर को रथ समझो' इत्यादि के द्वारा शरीर आदि परिकरों के साथ जीव को बतलाती है। तथा (क० उ० १।३।९) श्रुति बतलाती है कि 'सुन्दर विज्ञान ही जिसका सारथी है, तथा साधन के पथ पर प्रवृत्त मानव भगवान विष्णु के श्रेष्ठ पद रूपी मोक्ष को प्राप्तकर लेता है। इस श्रुति में प्राप्य रूप से परमात्मा तथा प्रापक (उपासक) रूप से जीव को बतलाया गया है। इस (क० उ० १।३।१) में भी श्रुति के 'छायातपौ' पद के वाच्यार्थ भूत अज्ञ जीवात्मा को उपासक रूप से तथा सर्वज्ञ परमात्मा को उपास्य रूप से बतलाती है।

मूल—अथ स्यात् *येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके इति जीवस्वरूपयाथात्म्यप्रश्नोपक्रमात्सर्वमिदं प्रकरणं जीवपरमिति प्रतीयत इति। नैतदेवम्, न हि जीवस्य देहातिरिक्तस्यास्तित्वनास्तित्वशङ्कयाऽयं प्रश्नः, तथा सति पूर्ववरद्वयवरणानुपपत्तेः। तथा हि—पितुस्सर्ववेदसदक्षिणक्रतुसमाप्तिवेलायां दीयमानदक्षिणावैगुण्येन क्रतुवैगुण्यं मन्यमानेन कुमारेण नचिकेतसा आस्तिकाग्रेसरेण स्वात्मदानेनापि पितुः क्रतुसाद्गुण्य-

मिच्छता *कस्मै मां दास्यसीत्यसकृत्पितरं पृष्टवता स्वनिर्बन्धरुष्टपितृवचनान्मृत्युसदन प्रविष्टेन स्वसदनात्प्रोषुषि यमे तददर्शनात्तत्र तिस्रो रात्रीरुपोषुषा स्वोपवासभीततत्प्रतिविधानप्रवृत्तमृत्युप्रदत्ते वरत्रये आस्तिक्यातिरेकात्प्रथमेन वरेण स्वात्मानं प्रति पितुः प्रसादो वृतः । एतच्च सर्वं देहातिरिक्तमात्मानमजानतो नोपपद्यते । द्वितीयेन च वरेणोत्तीर्णदेहात्मानुभाव्यफलसाधनभूताऽग्निविद्या वृता । तदपि देहातिरिक्तात्मानभिज्ञस्य न संभवति । अतस्तृतीयेन वरेण यदिदं व्रियते *येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ इति, अत्र परमपुरुषार्थरूपब्रह्मप्राप्तिलक्षणमोक्षयाथात्म्यविज्ञानाय तदुपायभूतपरमात्मोपासनपरावरात्मतत्त्वजिज्ञासयाऽयं प्रश्नः क्रियते । एवं च *येयं प्रेत इति न शरीरवियोगमात्राभिप्रायम्; अपि तु सर्वबन्धविनिर्मोक्षाभिप्रायम् । यथा *न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति इति ।

अयमर्थः—मोक्षाधिकृते मनुष्ये प्रेते—सर्वबन्धविनिर्मुक्ते तत्स्वरूपविषया वादिविप्रतिपत्तिनिमित्ताऽ-

स्तिनास्थात्मिका येयं विचिकित्सा, तदपनोदनाय तत्स्व रूपयाथात्म्यं त्वयाऽनुशिष्टोऽहं विद्यां-जानीयाम्-इति ।

अनु०- [इस कठोपनिषद् में परमात्मा के जीव के साथ रहने का उसी प्रकार से अपलाप नहीं किया जा सकता है जिस तरह इन्द्र का साथ उपेन्द्र नहीं छोड़ते, तथा जीव बलराम का साथ श्रीकृष्ण नहीं छोड़ते, फिर भी इस उपनिषद् का प्रधान पतिपाद्य जीव ही है, परमात्मा नहीं इस अर्थ को अथस्यात् इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा बतलाया जाता है ।] तथाहि यदि कहें कि- [क० उ० १।१।२०] यह जो मानव के मृत्यु के पश्चात् के विषय में शंका है कि कुछ लोग यह कहते हैं कि मृत्य के परचात् भी मोक्षस्थ वना जीव ही रहता है, तथा एक प्रकार के लोग कहते हैं कि वह मृत्यु के पश्चात मोक्षमें नहीं रहता है । इस श्रुति मे जीव के स्वरूप के याथात्म्य विषयक प्रश्न के द्वारा उपक्रम होने से इस सम्पूर्ण प्रकरण को ही जीव परक मानना चाहिये । [जीव एवं परमात्मा परक नहीं ।] तो यह कहना उचित न होगा । क्योंकि देह से भिन्न जीव विपयक अस्तित्व एवं नास्तित्व [अभाव] के विषय में शंका हुए विना उपर्युक्त प्रश्न नहीं किया जा सकता है । क्योंकि देह से भिन्न आत्मा के माने बिना पहले के नाचिकेता द्वारा मांगे गये दो वरदानों का औचित्य नहीं सिद्ध होगा । वह इस प्रकार से है कि- पिता उद्दालक के दक्षिणा में सवस्व दान दे दिये जाने वाले यज्ञ की समाप्ति की वेला में दी जाने वाली दक्षिणा के औचित्य के कारण यज्ञ के फलराहित्य की आशंका

से आस्तिकों में अग्रगण्य कुमार नचिकेता जो अपने को भी दान में देकर पिता के यज्ञ को सफल बनाना चाहता था, उसने पिता से बार-बार पूछा—पितः मुझे किसे देंगे। अपने आग्रह के कारण क्रुद्ध पिता की आज्ञा से यमराज के घर में पहुँचे हुए, तथा अपने घर से बाहर गये हुए यमराज को देखे बिना वहां पर तीन रात्रियों तक उपवास करने वाले, तथा अपने उपवास से डरे हुए यमराज के द्वारा तीन वरदानों को दिये जाने पर उसने आस्तिकता के आधिक्य के कारण ही प्रथम वरदान के द्वारा अपने प्रति पिता की प्रसनता का वरण किया। ये सारी बातें देह से भिन्न आत्मा को जाने बिना सम्भव नहीं है। और दूसरे वरदान के द्वारा देह में होने वाले आत्माभिमान के अनुभव से ऊपर उठकर प्राप्य फल मोक्ष के साधन भूत अग्नि विद्या के ज्ञान का वरण किया गया। यह भी देह से आत्मा को भिन्न रूप से जाने बिना नहीं सम्भव है। अतएव तीसरे वरदान के रूप में नाचिकेता मांगता है कि—"मरे हुए मनुष्य के विषय में यह जो संशय है कि— कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु के पश्चात् जीव रहता ही है और कुछ लोगों का कहना है कि यह मृत्यु के पश्चात् नहीं रहता। अतएव इस विषय को आपके ही द्वारा अनुशासित होकर मैं जानूं यह मेरा तीसरा वरदान है।'

इसलिए इस प्रकरण में परम पुरुषार्थ भूत ब्रह्म प्राप्ति स्वरूप मोक्ष के वास्तविक स्वरूप को हम जानने के लिए उसके

उपाय भूत परं ब्रह्म की उपासना तथा जीवात्मा एवं परमात्मा तत्त्व को जानने की इच्छा से यह प्रश्न किया जा रहा है। अतएव 'येयं प्रेते' इस श्रुति के अंश का अभिप्राय केवल शरीर त्याग मात्र से ही नहीं है अपितु सभी प्रकार के बन्धनों की मुक्ति से है। जिस तरह (बृ० उ० ४।४।१२) 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इस श्रुति का प्रेत्य शब्द सर्वबन्ध विनिर्मुक्ति को बतलाता है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। अतएव नाचिकेता के उपर्युक्त प्रश्न का आशय है कि—मोक्षाधिकारी मनुष्य के सभी बन्धनों से विनिर्मुक्त हो जाने पर उसके स्वरूप की सत्ता के विषय में वादि प्रतिवादियों में जो अस्तित्व एवं नास्तित्व संबंधी सन्देह है, उसको दूर करने के लिए सर्वबन्ध विनिर्मुक्त जीव के स्वरूप को वास्तविकता को आपके ही द्वारा अनुशासित (उपदिष्ट) होकर मैं जान लेना चाहता हूँ।

तथा हि बहुधा विप्रतिपद्यन्ते—केचिद्वित्तिमात्रस्यात्म. नस्वरूपोच्छित्तिलक्षणं मोक्षमाचक्षते। अन्ये वित्तिमात्रस्यैव सतोऽविद्यास्तमयम्। अपरे पाषाणकल्प स्यात्मनो ज्ञानाद्यशेषवैशेषिकगुणोच्छेदलक्षणं कैवल्य रूपम्। अपरे तु अपहतपाप्मानं परमात्मानमभ्युपग च्छन्तस्तस्यैवोपाधिसंसर्गनिमित्त जीवभावस्योपाध्यपगमेन तद्भावलक्षणं मोक्षमातिष्ठन्ते। त्रय्यन्तनिष्णातास्तु

निखिलजगदेककारणस्याशेषहेयप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दै कस्वरूपस्य स्वाभाविकानवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याण गुणाकरस्य सकलेतरविलक्षणस्य सर्वात्मभूतस्य परस्य ब्रह्मणश्शरीरतया प्रकारभूतस्यानुकूलापरिच्छिन्नज्ञान-स्वरूपस्य परमात्मानुभवैकरसस्य जीवस्यानादिकर्म रूपाविद्यातिरोहितस्वरूपस्याविद्योच्छेदपूर्वकस्वाभाविक परमात्मानुभवमेव मोक्षमाचक्षते । तत्र मोक्षस्वरूपं तत्साधनं च त्वत्प्रसादाद्विद्यामिति नचिकेतसा पृष्टो मृत्युस्तस्यार्थस्य दुरवबोधत्वप्रदर्शनेन विविधभोगवित रणप्रलोभनेन चैनं परीक्ष्य योग्यतामभिज्ञाय परावरात्मत-त्वविज्ञानपरमात्मोपासनं तत्पदप्राप्तिलक्षणं मोक्षं च *तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टमित्यारभ्य *सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदमित्यन्तेनोपदिश्य तदपेक्षितांश्च विशेषानुपदिदेशेति सर्वं समञ्जसम् । अतः परमा-त्मैवात्तेति सिद्धम् ॥१२॥

अनु०— सर्वबन्ध विनिर्मुक्त जीव के विषय में अनेक प्रकार के विचारकों के परस्पर विरोधी निम्न विचार हैं । कुछ [बौद्ध] विचारक आत्मा को ज्ञान स्वरूप मानते हैं और बतलाते हैं कि आत्मा के स्वरूप का नाश हो जाना ही उसका

मोक्ष कहलाता है। शाङ्कर मतावलम्बी विद्वानों का कहना है है कि–आत्मा ज्ञानमात्र तथा सत्तामात्र है, तथा उसकी अविद्या का नाश हो जाना ही जीव का मोक्ष है। अन्य तार्किक विद्वान् मानते हैं कि वस्तुत: आत्मा पाषाण के समान जड़ है। उसके जो सुख दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और ज्ञान विशेष गुण हैं उनका नाश हो जाने से केवल आत्मा को अपने वास्तविक रूप में रह जाने को उसका मोक्ष कहते हैं। यद्यपि भास्कर मतावलम्बी कर्मों के बन्धन से रहित परमात्मा को स्वीकार करते हुए यह कहते हैं कि अज्ञान रूपी उपाधि के सम्बन्ध के कारण वही ब्रह्म जीव वन जाता है। और उपाधियों के हट जाने पर जब वह स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है, वही उसका मोक्ष कहलाता है। वेदान्त शास्त्र के जानकार विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तावलम्बियों का कहना है कि—सम्पूर्ण जगत् के एकमात्र कारण, अखिल हेय प्रत्यनीक, सीमातीत ज्ञानानन्द स्वरूप; स्वभावत: सीमातीत सर्वोत्कृष्ट असंख्य कल्याण करने वाले गुणों के एकमात्र आश्रय, स्वेतर समस्त वस्तु विलक्षण, सभी भूतों की आत्मा परं ब्रह्म का शरीर होने के कारण प्रकार (विशेषण) स्वरूप अनुकूल रूप से सीमातीत ज्ञान स्वरूप परमात्मा का अनुभव करना ही एकमात्र जिनका आनन्द है, फिर अनादि कर्म रूप अज्ञान के कारण जिनका स्वरूप तिरोहित होगया है, ऐसे जीव के अविद्या के नाश पूर्वक स्वभाविक रूप से परमात्मा का अनुभव करने लगना ही मोक्ष कहलाता है। 'येयं प्रेते विचिकित्सा' इत्यादि

श्रुति में नचिकेता का अभिप्राय है कि- मैं आपकी कृपा से मोक्ष का स्वरूप तथा उसके साधन को जान जाऊं । इस तरह से नचिकेता के द्वारा पूछे जाने पर यमराज ने; उस अर्थ को दुख बोध बतलाकर, तथा नचिकेता को अनेक प्रकार की भोग की सामग्री प्रदान रूप प्रलोभन के द्वारा इसकी परीक्षा करके और उसकी आत्मतत्व को जानने की योग्यता को समझकर परमात्मतत्व विज्ञान तथा आत्मतत्व विज्ञान को, परमात्मा की उपासना को तथा परमात्मा की प्राप्ति स्वरूप मोक्ष को-[क० उ० १।२।१२] उस योगियों के द्वारा साक्षात्कार किये जाने में कठिन हृदय गुफा में छिपे हुए तथा अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट परमात्मा को' इस श्रुति से प्रारम्भ करके [क० उ० १।३।९] परमात्मोपासना के पथ पर प्रवृत उपासक भगवान के श्रेष्ठ वैकुण्ठ लोक को प्राप्त कर लेता है ।' श्रुति पर्यन्त उपदेश देकर उसके लिए अपेक्षित विशेष बातों का श्रुति ने उपदेश दिया । इस तरह उक्त सभी बातों का समन्वय हो गया । इस तरह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही चराचर के अत्ता [भोक्ता] हैं ।

अन्तराधिकरण का प्रारम्भ

अन्तर उपपत्तेः ।१।२।१३।।

मूल—इहमामनन्ति छन्दोगाः य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म इति ।

तत्र संदेहः- किमयमक्ष्याधारतया निर्दिश्यमानः पुरुषः प्रतिबिम्बात्मा, उत चक्षुरिन्द्रियाधिष्ठाता देवता-बिशेषः; उत जीवात्मा, अथ परमात्मेति । किं युक्तम् ? प्रतिबिम्बात्मेति । कुतः ? प्रसिद्धवन्नि-र्देशात्, *दृश्यते इत्यपरोक्षाभिधानाच्च । जीवात्मा वा; तस्यापि हि चक्षुषि विशेषेण सन्निधानात्प्रसि-द्धिरुपपद्यते उन्मीलितं हि चक्षुरुद्वीक्ष्य जीवात्मन-श्शरीरे स्थितिगतो निश्चिन्वन्ति । *रश्मिभिरेषो-ऽस्मिन्प्रतिष्ठितः इति श्रुतिप्रसिद्ध्या चक्षुःप्रतिष्ठो देवताविशेषो वा । एष्वेव प्रसिद्धवन्निर्देशोपपत्तेरेषा-मन्यतमः ।

अनु०- छान्दोगाध्यायी निम्न प्रकार से (छा० उ० ४। १५।१) सामाम्नान करते हैं—'योगियों के द्वारा आखों के भीतर जो पुरुप देखा जाता है वही आत्मा है, यही अमृत और अभय है, यही ब्रह्म है । इसके विषय में सन्देह होता है कि- क्या यह आखों के आधार रूप से जो पुरुष निर्दिष्ट किया जाता है, वह प्रतिबिम्वात्मा है ? अथवा चक्षुरिन्द्रिय का अधिष्ठाता कोई देवता विशेष है ? या जीवात्मा है ? या परमात्मा है ? इनमें से क्या मानना ठीक है ? पूर्वपक्षी का कहना है कि वह प्रति-बिम्वात्मा ही है, क्योंकि उसका प्रसिद्ध के समान श्रुति निर्देश

करती है, तथा 'दृश्यते' पद के द्वारा उसके साक्षात्कार का भी श्रुति निर्देश करती है। अथवा वह पुरुष जीवात्मा हो सकता है। क्योंकि उसका भी नेत्र में विशेष रूप से सान्निध्य देखा जाता है, अतएव उसकी भी प्रसिद्धि सिद्ध होती है। किसी भी व्यक्ति को नेत्र खोलते देखकर यह सहज ही निश्चय कर लिया जाता है कि इसके शरीर में जीवात्मा विद्यमान एवं गतिमान है। अथवा (बृ० ७।५।१) यह आदित्य अपनी ज्योतियों के द्वारा आँखों में प्रतिष्ठित है। इस श्रुति की प्रसिद्धि के द्वारा भी चक्षु में प्रतिष्ठित देवता विशेष (आदित्य) हो सकता है। चूंकि इसी अर्थ में श्रुति के 'यत्' पद के द्वारा प्रसिद्धवत निर्देश उपपन्न हो सकता है, अतएव वह तीनों में से कोई एक हो सकता है।

टिप्पणी– प्रस्तुत 'य एष अक्षिणी' इत्यादि श्रुति छान्दोग्योपनिषद में वर्णित उपकोसल विद्या में आई है। आचार्य सत्यकाम की सन्निधि में शिष्य उपकोसल ने दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक निवास किया। किन्तु ब्रह्मविद्या की प्राप्तिकाल में आचार्य प्रावास में चले गये। यह देखकर शिष्य उपकोसल खिन्नसे होगा और भोजन छोड़ दिये। अपनी सेवा करने वाले उपकोसल की उदासीनता देखकर आचार्य की त्रेताग्नि ने उपकोसल को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए कहा– 'प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म खं ब्रह्म' अर्थात् सम्पूर्ण जगत के प्राणों के एकमात्र आधार अपरिच्छिन्न सुख स्वरूप ब्रह्म' हैं। इसके पश्चात् तीनों अग्नियों ने ब्रह्म विद्या के अङ्गभूत अग्नि विद्या का उपदेश देते हुए कहा—चूंकि

आचार्य से ही प्राप्त होनेवाली विद्या साधिष्ठ होती है अतएव अर्चिरादि गति का उपदेश तो तुम्हें आचार्य ही देंगे। इसके पश्चात् लौटे हुए आचार्य ने यह जानकर कि उपकोसल की परिचर्या से प्रसन्न होकर हमारी अग्नियों ने उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है, अत्यन्त प्रसन्न होकर अर्चिरादि गति के उपदेश का उपक्रम करते हुए उपर्युक्त (छा० ४।१५।१) श्रुति का उपदेश दिया।

मूल—इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे– अन्तर उपपत्तेः। अक्ष्यन्तरः परमात्मा। कुतः ? *एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति एतं संयद्वाम इत्याचक्षते. एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति एष उ एव वामनिः, एषो हि सर्वाणि वामानि नयति; एष उ एव-भामनिः, एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति इत्येषां गुणानां परमात्मन्येवोपपत्तेः ॥ १३ ॥

अनु०—उपर्युक्त पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सूत्रकार कहते हैं—अन्तर उपपत्तेः। नेत्र के भीतर आधार रूप से विद्यमान परमात्मा ही है। क्योंकि उस पुरुष का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा—वह पुरुष ही आत्मा, अमृत, अभय और ब्रह्म हैं। आचार्य ने पुनः कहा– वह पुरुष ही संयद्वाम (सकल कल्याण गुणगणाकर अथवा सत्य संकल्प) कहलाता है। क्योंकि

यही सभी प्रार्थनीय वस्तुओं का आश्रय है। निश्चय ही यह अपने आश्रितों को सुन्दर बुद्धि प्रदान करता (वामनी) क्योंकि यह सभी कल्याणों का नियामक हैं। और यह ही भामिनः (अर्थात् सभी लोकों में व्याप्त प्रकाश युक्त दिव्य मंगल विग्रह युक्त है।) क्योंकि यह सभी लोकों में प्रकाशित होता है।" इस श्रुति में वर्णित गुणों की परमात्मा में ही उपपत्ति सम्भव है ॥ १३ ॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च ।१।२।१४॥

मूल—चक्षुषि स्थितिनियमनादयः परमात्मन एव *यश्चक्षुषि तिष्ठन्नित्येवमादौ व्यपदिश्यन्ते । अतश्च *य एषोऽक्षिणि पुरुषः इति स एव प्रतीयते । अतः प्रसिद्धवन्निर्देशोऽपि परमात्मन्युपपद्यते । तत एव *दृश्यते इति साक्षात्कारव्यपदेशोऽपि योगिभिर्दृश्यमानत्वादुपपद्यते ॥१४॥

अनु०—किञ्च नेत्रों के आधार रूप से परमात्मा का ही अभिधान श्रुतियां करती हैं। नेत्रों में स्थित, नियमन आदि परमात्मा का ही उपदेश श्रुतियां (बृ० उ० ५।७।२२) आदि श्रुतियों में करती हैं। अतएव भी 'जो यह नेत्रों में पुरुष योगियों के द्वारा देखा जाता है।' इस श्रुति में परमात्मा ही प्रतीत होता है। अतएव प्रसिद्धवत निर्देश परमात्मा के ही विषय में

उपपन्न होता है । इसीलिए 'दृश्यते' पद के द्वारा अक्ष्याधार पुरुष के साक्षात्कार का व्यपदेश इसलिए सिद्ध होता है क्योंकि योगीजन उसका समाधिकाल में साक्षात्कार करते हैं ।

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ।१।२।१५।।

मूल—इतश्चाक्ष्याधारः पुरुषोत्तमः– *कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति प्रकृतस्य सुखविशिष्टस्य ब्रह्मणः उपासनस्थानविधानार्थं संयद्वामत्वादिगुणविधानार्थं च *य एषोऽक्षिणि पुरुष इत्यभिधानात् । एवकारो नैरपेक्ष्यं हेतोर्द्योतयति ।

नन्वग्निविद्याव्यवधानात् *कं ब्रह्मेति प्रकृतं ब्रह्म नेह सन्निधत्ते । तथा हि–अग्नयः *प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ब्रह्मविद्यामुपदिश्य *अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशासेत्यारभ्याग्नीनामुपासनमुपदिदिशुः । नचाग्निविद्या ब्रह्मविद्याङ्गमिति शक्यं वक्तुम्, ब्रह्मविद्याफलानन्तर्गतसहिरोधिसर्वायुः–प्राप्तिसन्तत्यविच्छेदादिफलश्रवणात् ।

अनु०—अपरिच्छिन्न सुख विशिष्ट रूप से बतलाये जाने के कारण ही अक्ष्याधार पुरुष ब्रह्म सिद्ध होता है । यह सूत्रार्थ हुआ ।

इसलिए भी नेत्राधार पुरुषोत्तम सिद्ध होते हैं कि—(छा० ४।१०।५) 'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' इस श्रुति में आचार्य सत्यकाम द्वारा प्रस्तावित अपरिच्छिन्न सुख विशिष्ट ब्रह्म के उपासना स्थान के विधान के लिए तथा संयद्वामत्वत्व (अखिल कल्याण गुणाकरत्व) आदि गुणों का विधान करने के लिये, जो यह नेत्राधार रूप से विद्यमान पुरुष है, (छा० ४।१५।१) यह सूत्र के द्वारा कहा गया है । सूत्र का एव पद सुख विशिष्टाभिधान रूप हेतु को हेत्वन्तर निरपेक्ष सूचित करता है ।

यदि यहां पर कोई यह प्रश्न करे कि ब्रह्म विद्या तथा अक्ष्याधार पुरुष के वर्णन के बीच में अग्नि विद्या का व्यवधान है, अतएव 'कं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति के द्वारा उपदिष्ट ब्रह्म का यहाँ सान्निध्य नहीं माना जा सकता है । क्योंकि अग्नियों ने 'प्राणों के आश्रय अपरिच्छिन्न सुख स्वरूप ब्रह्म हैं'—यह उपदेश देकर, 'इसके पश्चात् गार्हपत्य अग्नि ने उपदेश देना प्रारम्भ किया' इत्यादि से प्रारम्भ करके अग्नि की उपासना का उपदेश दिया है । और यह नहीं कहा जा सकता है कि अग्नि विद्या ब्रह्म विद्या का अङ्ग है क्योंकि उन अग्नियों की उपासना का फल ब्रह्म विद्या के फल के अन्तर्गत नहीं आता तथा ब्रह्म विद्या के फल मोक्ष के विरोधी रूप से सम्पूर्ण आयु की प्राप्ति तथा सन्तति का अविच्छेद रूप उसका फल सुना जाता है ।

मूल—उच्यते— *प्राणो ब्रह्म *एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेत्यु-भयत्र ब्रह्मसंशब्दनात्, *आचार्यस्तु ते गतिं वक्ते-त्यग्निवचनाच्च गत्युपदेशात्पूर्वं ब्रह्मविद्याया असमा-प्तेस्तन्मध्यगताऽग्निविद्या ब्रह्मविद्याङ्गमिति निश्चीयते, *अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशासेति ब्रह्मविद्याविच्छेदायै-वाग्निविद्योपदेशाच्च । किञ्च *व्याधिभिः प्रतिपूर्णो ऽस्मीति ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तनानाविधकामोपहतिपूर्वक गर्भजन्मजरामरणादि भवभयोपतप्तायोपकोसलाय *एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्याऽऽत्मविद्या चेति समुच्चि-त्योपदेशान्मोक्षैकफलात्मविद्याङ्गत्वमग्निविद्यायाः प्रती-यते । एवं चाङ्गत्वेऽवगते सति फलानुकीर्तनमर्थवाद इति गम्यते । नचात्र मोक्षविरोधिफलं किञ्चिदुच्-यते, *अपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते उप वयन्तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च इत्यमीषां फलानां मोक्षाधिकृतस्यानुगुणत्वात् । अपहते पापकृत्याम्—ब्रह्मप्राप्तिविरोधि पापं कर्मापहन्ति । लोकी भवति—तद्विरोधिनि पापे निरस्ते ब्रह्मलोकं प्राप्नोति ।

सर्वमायुरेति– ब्रह्मोपासनसमाप्तेर्यावदायुरपेक्षितम्; तत्सर्वमेति। ज्योग्जीवति–व्याध्यादिभिरनुपहतो याव-द्ब्रह्मप्राप्ति जीवति। नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते– अस्य शिष्यप्रशिष्यादयः पुत्रपौत्रादयोऽपि ब्रह्मविद एव भवन्ति। *नास्याब्रह्मवित्कुले भवतीति च श्रुत्यन्तरे ब्रह्मविद्याफलत्वेन श्रूयते। उप वयन्तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च– वयम् अग्नयस्त-मेनमुपभुञ्जामः–यावद्ब्रह्मप्राप्ति विघ्नेभ्यः परिपाल-याम इति। अतोऽग्निविद्याया ब्रह्मविद्याङ्गत्वेन तत्सन्निधानाविरोधात्सुखविशिष्टं प्रकृतमेव ब्रह्मोपासन स्थानविधानार्थं गुणविधानार्थं चोच्यते।

अनु०—उपर्युक्त शंका का अपनोदन करते हुए श्री भाष्यकार स्वामी जी कहते हैं कि–ब्रह्मविद्या के बीच में आई हुई अग्नि विधा ब्रह्म विधा का अङ्ग ही है– क्योंकि 'प्राणो ब्रह्म' तथा 'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म' इन दोनों श्रुतियों में उसे ब्रह्म शब्द से ही अभिहित किया गया है। किञ्च अग्नियों के द्वारा यह कहा भी गया है कि तुम्हें ब्रह्म विद्या के द्वारा प्राप्य गति का उपदेश आचार्य ही करेंगे, और अर्चिरादि गति के उपदेश के पहले ब्रह्म विद्या की समाप्ति हो नहीं सकती है, अतएव

निश्चित होता है कि बीच में आई हुई अग्नियों की उपासना भी ब्रह्म विद्या का अङ्ग ही है। तथा 'इसके पश्चात् इसे (उपकोशल को) गार्हपत्य अग्नि ने उपदेश देना प्रारम्भ किया।' इस श्रुति में ब्रह्म विद्या के अधिकारी को ही अग्नि उपासना का उपदेश दिया गया है। दूसरी बात यह भी है कि—' छा० ४।१०।३) मैं (अनेक प्रकार के गर्भ, जन्म, जरा, मरण आदि फलप्रद) व्याधियों से परिपूर्ण हूँ, यह कहने वाले तथा ब्रह्म प्राप्ति से भिन्न गर्भ जन्म, जरा, मरण आदि फलों को देने वाली कामनाओं से प्रनारित होकर, संसार भय से संतप्त उपकोसल को (अग्नि विद्या के उपदेश के अन्त में अग्नियों ने ने कहा—) 'हे सोम्य (सोमरस पानार्ह उपकोसल) यह तुम्हें अग्नि विद्या तथा आत्म विद्या का उपदेश दिया गया' (छा० ४।१४।१) इस श्रुति में ब्रह्म विद्या तथा अग्नि विद्या दोनों को मिलाकर उपदेश अग्नियों के द्वारा दिये जाने के कारण निश्चित होता है कि—अग्नि विद्या उसी ब्रह्म विद्या का अङ्ग है जिसका एकमात्र फल मोक्ष है। और अग्नि विद्या के ब्रह्म विद्या का फल निश्चित हो जाने पर अग्नि विद्या का अलग फल का वर्णन केवल अर्थवाद मात्र है। और इस अग्नि विद्या के फल वर्णन ब्रह्म विद्या के फल का विरोधी कुछ भी नहीं सुना जाता है। क्योंकि—'अपहते पापकृत्यां लोकी भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति, नास्यावर पुरुषाः क्षीयन्ते, उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च।' इत्यादि अग्नि विद्या के फल रूप से वर्णित

श्रुति में बतलाये गये फल मोक्षाधिकारी के अनुकूल ही हैं। उपर्युक्त श्रुति का अर्थ निम्न प्रकार का है— अपहते पाप कृत्याम्=(अग्नि विद्या) ब्रह्म प्राप्ति के विरोधी पापकर्मो का नाश करती है। लोकीभवति=ब्रह्म प्राप्ति के विरोधी पाप का नाश हो जाने पर वह अग्निविद्या वेत्ता ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है। सर्वमायुरेति=ब्रह्म की उपासना की समाप्ति पर्यन्त जितनी आयु अपेक्षित है, उतनी पूर्ण आयु को प्राप्त करता है। ज्योग्जीवति=व्याधि आदि से रहित होकर ब्रह्मविद्या की प्राप्ति पर्यन्त जीता है। नास्यावर पुरुषाः क्षीयन्ते=उस ब्रह्म ज्ञानी के शिष्य प्रशिष्य तथा पुत्र पौत्रादि भी ब्रह्मज्ञानी ही होते हैं। 'ब्रह्मज्ञानी के कुल में सभी ब्रह्मज्ञानी ही होते हैं' (मु० ३। २।९) यह दूसरी श्रुति में भी ब्रह्म विद्या के फल रूप से सुना जाता है। उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च=हमें तीनों प्रकार के अग्नि मिलकर उस अग्नि उपासक की विघ्नों से तब तक रक्षा करते हैं, जब तक कि उसे ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो जाती है। इसलिये अग्नि विद्या के ब्रह्म विद्या के अंग होने के कारण उसके सन्निधान से विरोध न होने के कारण, प्रस्तावित सुख विशिष्ट ब्रह्म की ही उपासना के लिए उसके स्थान तथा गुण का विधान करने के लिए श्रुति कहती है—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्यादि।

मूल—ननु *आचार्यस्तु ते गतिं वक्तेति गतिमात्रपरिशेषणा-

दाचार्येण गतिरेवोपदेश्येति गम्यते; तत्कथं स्थानगुण-विपर्ययतोच्यते । तदभिधीयते । *आचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्यस्यायमभिप्रायः— ब्रह्मविद्यामनुपदिश्य प्रोषुषि गुरौ तद्भावनाभ्यासमुपकोसलमुज्जीवयितुं स्वपरिचारणप्रीता गार्हपत्यादयो गुरोरग्नयस्तस्मै ब्रह्मस्वरूपमात्रं तदङ्गभूतां चाग्निविद्यामुपदिश्य *आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत् इति श्रुत्यर्थमालोच्य साक्षुतमत्वप्राप्त्यर्थमाचार्य एवास्य संयद्वामत्वादिगुणकं ब्रह्म तदुपासनस्थानमर्चिरादिकां च गतिमुपदिशत्विति मत्वा *आचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्यब्रुवन् । गतिग्रहणमुपदेश्यविद्याशेषप्रदर्शनार्थम् । अत एवाचार्योऽपि *अहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते इत्युपक्रम्य संयद्वामत्वादिकल्याणगुणविशिष्टं ब्रह्माक्षिस्थानोपास्यमर्चिरादिकां च गतिमुपदिदेश । अतः *कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति सुखविशिष्टस्य प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽक्ष्यभिधानादक्ष्याधारः परमात्मा ॥ १५ ॥

अनु०—यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि अग्नियों ने ब्रह्म

पदेश तथा अग्नि विद्या का उपदेश देकर कहा कि—आचार्य ही तुम्हें गति का उपदेश देंगे। अतएव केवल गति मात्र का उपदेश देना आचार्य के लिए अवशिष्ट था, इसलिए 'यहाँ पर आचार्य केवल गति का उपदेश देते हैं। फिर आप यह कैसे कहते हैं कि प्रकृत 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' श्रुति में उपासना के लिए स्थान एवं गुणों का विधान श्रुति को अभिप्रेत है। तो इसका उत्तर यह है कि—आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता श्रुति का अभिप्राय यह है कि-ब्रह्म विद्या का उपदेश दिये बिना ही प्रवास में आचार्य सत्यकाम के चले जाने पर; ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के अभाव में नहीं भोजन करने वाले उपकोसल का आत्मोज्जीवन करने हेतु, अपनी परिचर्या से प्रसन्न गार्हपत्य आदि गुरु की अग्नियों ने उसके लिए ब्रह्म के स्वरूप तथा ब्रह्म विद्या के अङ्गभूत अग्नि विद्या का उपदेश करके- चूंकि आचार्य से प्राप्त की गयी विद्या ही साधुतम होती है।' इस श्रुति के अर्थों को अपने हृदय में रख कर, साधुतमत्व की प्राप्ति के लिए, आचार्य ही उसे 'संयद्-वामत्व' आदि गुणों से युक्त ब्रह्म उसकी उपासना के योग तथा अर्चिरादि गुण का उपदेश करें, यह सोचकर कहा- आचार्य ही तुम्हें 'अर्चिरादि' गति का उपदेश करेंगे। प्रस्तुत 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' वाक्य में प्रयुक्त गति पद इस अर्थ को सूचित करता है कि उपदेश्य जो ब्रह्म विद्या है उसका अंश अभी अवशिष्ट है। अतएव आचार्य भी (छा० ४।१४।३) में कहते हैं कि- 'मैं भी तुम्हें उस अर्चिरादि गति का उपदेश दूंगा जिस

तरह कमल के पत्तों से जल का संसर्ग नहीं होता है, उसी प्रकार इस अपरिच्छिन्न सुख विशिष्ट सभी प्राणों के आधारभूत ब्रह्म को जानने वाले उपासक का पाप कर्मों से सम्बन्ध नहीं होता है।' इस श्रुति से आरम्भ करके, नेत्रों के भीतर उपासना करने के योग्य, संयद्वामत्व आदि कल्याण गुण युक्त ब्रह्म का तथा अर्चिरादि मार्ग का उपदेश दिया। अतएव 'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' इस श्रुति में वर्णित अपरिच्छिन्न सुख विशिष्ट प्रस्तुत ब्रह्म का ही यह वर्णन किये जाने के कारण यह नेत्रों का आधार परमात्मा ही है॥ १५॥

मूल—ननु च *कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति परं ब्रह्माभिहितमिति कथमवगम्यते, यस्येहाक्ष्याधारतयाऽभिधानं ब्रूषे, यावता कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति प्रसिद्धाकाशलौकिकसुखयोरेव ब्रह्मदृष्टिर्विधीयत इति प्रतिभाति, *नाम ब्रह्म *मनो ब्रह्मेत्यादिवचनसारूप्यात्। तत्राह—

अत एव च स ब्रह्म। १। २। १६॥

मूल—अत एव *यदेव कं तदेव खमिति सुखविशिष्टस्याकाशस्याभिधानात्, अत एव खशब्दाभिधेयस्य आकाशः परं ब्रह्म। एतदुक्तं भवति—अग्निभिः *प्राणो ब्रह्म कं च खं ब्रह्मेत्युक्ते उपकोसल उवाच *विजानाम्यहं यत्प्राणो

ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामीति ।

अनु०—प्रश्न यह उठता है कि कैसे यह पता चलता है कि 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इस श्रुति में परं ब्रह्म का ही वर्णन किया गया है जिसका यहां पर नेत्रों के आधार रूप से वर्णन बतलाते हो। जबकि 'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' इस श्रुति में कं- खं शब्द वाच्य प्रसिद्ध आकाश और लौकिक सुख का ही ब्रह्म दृष्टि का विधान किया गया है, यह प्रतीत होता है। क्योंकि इस श्रुति के कं एवं खं की भी (छा० उ० ७।१।५) 'नाम ब्रह्म' तथा (छा० ७।३।२) 'मनो ब्रह्म' श्रुति में वर्णित नाम, और मन में ब्रह्म की दृष्टि के विधान की समता है। (अतएव यहाँ भी कं एवं खं शब्द से प्रसिद्ध आकाश तथा लौकिक सुख का ही अभिधान किया गया है।) इस तरह का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सूत्रकार कहते हैं— अतएव च ब्रह्म ॥ १ । २ । १६ ॥ अर्थात्— चूंकि उस श्रुतियों में 'जो कम् अर्थात् सुख है वही खम् अर्थात् आकाश के समान अपरिच्छिन्न है' इस श्रुति में सुख विशिष्ट आकाश का वर्णन किया गया है, अतएव ख शब्द वाच्य वह आकाश परं ब्रह्म ही है। कहने का आशय है कि— अग्नियों द्वारा 'प्राणों के आधार अपरिच्छिन्न सुख विशिष्ट ब्रह्म हैं' यह कहे जाने पर, उपकोसल ने कहा—'मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि प्राण ही ब्रह्म है, किन्तु कं शब्द वाच्य तथा खं शब्द वाच्य को तो ब्रह्म रूप नहीं जानता हूँ।'

टिप्पणी—अतएव ख शब्दाभिधेयः सः आकाशः परं ब्रह्म-वाक्यस्थ अतएव का अभिप्राय है कि सुख विशिष्ट आकाश का अभिधान होने के कारण ही । श्रुति में पहले कं ब्रह्म कहकर ब्रह्म को सुख स्वरूप बतलाया गया है । और 'यदेव कं तदेव खम्' कहकर श्रुति बतलाती है कि ख पद वाच्य आकाश सुख विशिष्ट है । क शब्द से विशेषित होने के ही कारण सुख विशिष्ट आकाश की प्रतीति होती है । क्योंकि ख शब्द वाच्य आकाश ही है । किन्तु प्रसिद्ध जड़ आकाश तो सुख विशिष्ट हो नहीं सकता ? क्योंकि सुखादि अचेतन आकाश के धर्म नहीं हो सकते हैं । अतएव वह आकाश शब्द का वाच्यार्थ ब्रह्म ही है । सूत्र का चकार बतलाता है कि—'एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्या चाऽऽत्मविद्या च ।' यह अग्नियों के द्वारा अग्नि विद्या के ब्रह्म विद्या कहे जाने पर भी कं शब्द वाच्य तथा खं शब्द वाच्य आकाश तथा सुख में, ब्रह्म दृष्टि का विधान नहीं किया गया है ।

मूल-अस्यायमभिप्रायः— न तावदग्न्यादिप्रतीकोपासनमग्निभिरभिहितम्; जन्मजरामरणादिभवभयभीतस्य मुमुक्षोर्ब्रह्मोपदेशाय प्रवृत्तत्वात् । अतो ब्रह्मैवोपास्यमुपदिष्टम् । तत्र प्रसिद्धैः प्राणादिभिस्समानाधिकरणं ब्रह्म निर्दिष्टम्, तेषु च प्राणविशिष्टत्वं जगद्धारणयोगेन वा प्राणशरीरतया प्राणस्य नियन्तृत्वेन वा ब्रह्मण उपपद्यत

इति *विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्मेत्युक्तवान् । तथा सुखाकाशयोरपि ब्रह्मणः शरीरतया तन्नियाम्यत्वेन विशेषणत्वम् उतान्योन्यव्यवच्छेदकतया निरतिशया-नन्दरूपब्रह्मस्वरूपसमर्पणपरत्वेन वा ? तत्र पृथग्भूतयोश्शरीरतया विशेषणत्वे वैषयिकसुखभूताकाशयोर्नियामकत्वं ब्रह्मणस्स्यादिति स्वरूपावगतिर्न स्यात्, अन्योन्यव्यवच्छेदकत्वेऽपरिच्छिन्नानन्दैकस्वरूपत्वं ब्रह्मणस्स्यादित्यन्यतरप्रकारनिर्दिधारयिषया * कं च तु खं च न विजानामीत्युक्तवान् ।

अनु०-कहने का अभिप्राय है कि अग्नियों ने प्राण आदि की प्रतीकोपासना का उपदेश नहीं दिया है, क्योंकि जन्म; जरा एवं मरणादि सांसारिक भय से भीत मुमुक्षु उपकोशल के लिए अग्नियों के प्रवृत्त होने के कारण । अतएव अग्नियों ने उपास्य रूप से ब्रह्म का ही उपदेश दिया है । उक्त श्रुतियों में प्राण के ही समान अधिकरण में ब्रह्म का जो उपदेश दिया गया है, उनमें ब्रह्म को प्राणादि से विशेषित करने के दो अभिप्राय हो सकते हैं । १—क्योंकि प्राणों का विशेष रूप से धारक ब्रह्म ही है अथवा २—प्राण ब्रह्म के शरीर हैं और जो जिसका शरीर होता है वह उसका नियाम्य होता है; अतएव प्राणों के नियामक होने के कारण भी ब्रह्म को प्राणों से विशेषित किया गया

है। इस अर्थ को हृदय में रखकर उपकोसल ने कहा— 'मैं विशेष रूप से जानता हूँ कि प्राण ही ब्रह्म है। इसी तरह चूंकि सुख और आकाश के भी ब्रह्म का शरीर होने के कारण, ब्रह्म के नियाम्य होने के ही कारण सुख और आकाश भी ब्रह्म के विशेषण हैं। अथवा परस्पर में व्यावर्तक होने से सीमातीत आनन्द रूप ब्रह्म के स्वरूप को बतलाने के कारण भी सुख-दुःख ब्रह्म के विशेषण हैं। इन दोनों पक्षों में सुख एवं आकाश को अलग-अलग ब्रह्म का शरीर होने से विशेषण मानने पर तो फिर उसका यह अभिप्राय होगा कि ब्रह्म वैषयिक सुख एवं पञ्चभूतों में अन्यतम आकाश का नियामक है, अतएव उसके द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पायेगा। किन्तु सुख और आकाश दोनों को परस्पर में एक दूसरे का विशेषण मानने पर सिद्ध होयेगा कि ब्रह्म केवल अपरिच्छिन्नानन्द स्वरूप है। इस तरह एक को दूसरे का विशेषण निर्धारित करने की इच्छा से उपकोसल ने कहा– 'मै क शब्द वाच्य सुख को तो ब्रह्म रूप से जानता हूँ किन्तु ख शब्द वाच्य आकाश को ब्रह्म रूप से नहीं जानता।'

टिप्पणी—निर्दिधारयिषया- यदि यहां पर कोई यह प्रश्न उठाये कि 'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' इस श्रुति में अलग-अलग ब्रह्म शब्द का प्रयोग किये जाने पर कैसे उपकोसल यह निर्णय कर सकते हैं कि; क तथा ख शब्द वाच्य सुख एवं आकाश में परस्पर में विशेष्य विशेषण भाव है? तो इसका उत्तर है कि

यदि अलग ब्रह्म शब्द का प्रयोग होने पर विशेष्य विशेषण भाव नहीं सम्भव है तो फिर अग्नियों ने कैसे विशेष्य विशेषण भाव के अभिमत रहने पर भी पृथक-पृथक ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया ? क्योंकि आगे चलकर अग्नियों ने कहा है कि- जो कं शब्द वाच्य सुख है वही खं शब्द वाच्य आकाश भी है। यदि कहें कि 'यद् वाव कं तदेव खं' श्रुति का अभिप्राय है सुख एवं आकाश के अन्तर्यामी की एकता का प्रतिपादन।

मूल—उपकोसलस्येममाशयं जानन्तोऽग्नयः *यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमित्यूचिरे। ब्रह्मणस्सुख-रूपत्वमेवापरिच्छिन्नमित्यर्थः। अतः प्राणशरीरतया प्राणविशिष्टं यद्ब्रह्म, तदेवापरिच्छिन्नसुखरूपं चेति निगमितम् *प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुरिति। अतः *कं ब्रह्म खं ब्रह्मेत्यत्रापरिच्छिन्नसुखं ब्रह्म प्रतिपादितमिति परं ब्रह्मैव तत्र प्रकृतम्, तदेव चात्राक्ष्याधारतयाऽभिधीयत इत्यक्ष्याधारः परमात्मा ॥ १६ ॥

अनु०—उपकोसल के इस आशय को जानने वाले अग्नियों ने कहा- निश्चय ही जो कं शब्द वाच्य सुख है वही खं शब्द वाच्य आकाश है। ब्रह्म की सुखरूपता ही अपरिच्छिन्न (असी-मित) है। अतएव प्राण शरीरक होने के कारण जो ब्रह्म प्राण

से विशेषित है वही असीमित सुख स्वरूप है, ऐसा अग्नियों ने निगमित किया। यह- अग्नियों ने उपकोसल को बतलाया कि जो प्राण है वही आकाश है' यह श्रुति बतलाती है। अतएव 'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' इस श्रुति में प्रतिपादित किया गया कि ब्रह्म अपरिच्छिन्न सुख स्वरूप है। अतएव उक्त श्रुति में ब्रह्म ही प्रस्तुत है। और उसी को नेत्रों के आधार रूप से श्रुति बतलाती है। अतएव नेत्रों का आधार परमात्मा है ॥ १६ ॥

टिप्पणी- 'सुखस्वरूपत्वमेवापरिच्छिन्नम्'- यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म सुख स्वरूप है तो फिर उसकी 'एष आत्मापहतपाप्मा' इत्यादि श्रुत्युक्त प्रकार से सुख स्वरूप जीवात्मा में अतिव्याप्ति होगी, अतएव भाष्य में बतलाया गया कि ब्रह्म अपरिच्छिन्न सुख स्वरूप है। यदि यह कहा जाता है कि अपरिच्छिन्न ब्रह्म है तो फिर उसकी अपरिच्छिन्न काल में अति व्याप्ति होगी अतएव ब्रह्म को अपरिच्छिन्न होने के साथ-साथ सुख स्वरूप बतलाया गया है।

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च । १ । २ । १७ ॥

मूल—श्रुतोपनिषत्कस्य—अधिगतपरमपुरुषयाथात्म्यस्यानुसन्धेयतया श्रुत्यन्तरप्रतिपाद्यमाना अर्चिरादिका गतिर्या; तामपुनरावृत्तिलक्षणपरमपुरुषप्राप्तिकरीमुपकोसलायाक्षिपुरुष श्रुतवते * तेऽर्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽह'

रह आपूर्यमाणपक्षमित्यारभ्य *चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवस्स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्म. पथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते इत्यन्तेनोपदिशति । अतोऽप्ययमक्षिपुरुषः परमात्मा ॥ १७ ॥

अनु०- किञ्च उपनिषदों के जानकार पुरुषों के लिये जो गति बतलायी गयी है उसी अर्चिरादि गति के उपासक उपकोसल के लिये आचार्य सत्यकाम के द्वारा उपदिष्ट किये जाने के कारण नेत्रों के आधार रूप से परमात्मा ही वर्णित हैं । यह सूत्र का अर्थ हुआ ।

जिसने परम पुरुष के वास्तविक स्वरूप को जान लिया है उस पुरुष के द्वारा अनुसंधेय रूप से दूसरी श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित की जाने वाली जो अर्चिरादि गति उसको (अक्षिपुरुष को) जिसने सुन लिया है उस उपकोसल को अपुनरावृति स्वरूप परमपुरुष को प्राप्त करानेवाली ब्रह्मविद्या का आचार्यने उपदेश देते हुए कहा-'वे ब्रह्मविद्याके उपासक मुमुक्षु जीव देहपात के पश्चात् अर्चिके अभिमानी देवताको प्राप्त होतेहैं, अर्चिसे दिनाभिमानी देवता को, और दिनाभिमानी देवता से शुक्ल पक्षाभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं, (छा०४।१५।५) श्रुति से प्रारम्भ करके 'चन्द्रमा से विद्युदभिमानी पुरुष को प्राप्त होता है। वह विद्युत पुरुष असंसारी

होता है और उन दोनों प्रकार के उपासकों को ब्रह्मलोक में ले जाता है। यह देवमार्ग ही ब्रह्म पथ है। इस मार्ग से प्रवृत्त उपासक जन्म-मरण रूप संसार चक्र में नहीं पड़ते हैं। (छा० ४।१५।६) यहां तक उपदेश देते हैं। इस प्रतिपादन के द्वारा भी सिद्ध होता है कि अदयाधार पुरुष परमात्मा ही है॥ ७॥

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः । १ । २ । १८ ॥

मूल—प्रतिबिम्बादीनामक्षिणि नियमेनानवस्थानादमृतत्वादीनां च निरुपाधिकानां तेष्वसंभवान्न परमात्मन इतरः छायादिः अक्षिपुरुषो भवितुमर्हति । प्रतिबिम्बस्य तावत्पुरुषान्तरसन्निधानायत्तत्वान्न नियमेनावस्थानसंभवः । जीवस्यापि सर्वेन्द्रियव्यापारानुगुणत्वाय सर्वेन्द्रियकन्दभूते स्थानविशेषे वृत्तिरिति चक्षुषि नावस्थानम् । देवतायाश्च *रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठित इति रश्मिद्वारेणावस्थानवचनाद्देशान्तरावस्थितस्यापीन्द्रियाधिष्ठानोपपत्तेः चक्षुष्यवस्थानम् । सर्वेषामेषां निरुपाधिकामृतत्वादयो न संभवन्त्येव । तस्मादक्षिपुरुषः परमात्मा ।१८

इति अन्तरधिकरणम् ॥

परमात्मा से भिन्न छाया आदि अक्षि-पुरुष नहीं हो सकते हैं क्योंकि प्रतिबिम्ब आदि नियमतः नेत्रों में नतो रहते हैं और

न तो उनके अमृत्व आदि स्वाभाविक धर्म हो सकते हैं। यह सूत्रार्थ है। आँखों में दिखाई पड़ने वाली छाया दूसरे पुरुष के सान्निध्य के बिना नहीं हो सकती है। अतएव उनका नियमतः आँखों में होना असम्भव है। जीव की भी सभी इन्द्रियों के व्यापार की अनुकूलता के लिए, सभी इन्द्रियों के मूलभूत स्थान विशेष [हृदय] में स्थिति रहती है, अतएव उसकी नेत्र में स्थिति नहीं हो सकती है। देवता की भी नेत्रों में स्थिति नहीं हो सकती है—किरणों के द्वारा आदित्य आंखों में प्रतिष्ठित है' यह श्रुति ज्योतियों के माध्यम से देवता की स्थिति बतलाती है, अतएव देशान्तर में स्थित भी देवता की चक्षुरिन्द्रिय की आधारता सिद्ध हो जाने के कारण उसकी नेत्रों में स्थिति नहीं बतलायी जा सकती है। किञ्च इन सबों (छाया, जीव तथा देवता) के अमृतत्व आदि स्वाभाविक धर्म नहीं हो सकते हैं। अतएव अक्षिपुरुष परमात्मा ही हैं।

इस तरह अन्तराधिकरण समाप्त हुआ।



हिन्दी श्रीभाष्य के सम्माननीय संरक्षकों की नामावली

१—अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु कृष्णामाचार्य स्वामी जी महाराज कांची प्रतिवादि भयंकर पीठाधीश्वर अध्यक्ष श्री वेंकटेश देवस्थान ट्रस्ट फानस बाडी बम्बई। १०,०००) रु०

२—जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र स्वामी रामनारायणाचार्य जी महाराज कोसलेश सदन पीठाधीश्वर कटरा अयोध्या (उ० प्र०)। १,०००) रु०

३—श्री १००८ श्रीस्वामी देवनायकाचार्यजी महाराज, अध्यक्ष श्री वैकुण्ठनाथ देवस्थान ट्रस्ट बक्सर। १०००) रु०

४—नारायण वाड़ी ट्रस्ट खाडिलकर रोड बम्बई। ४०००) रु०

५—श्री गंगाधर डालमियाँ चेरिटेबुल ट्रस्ट धामिन टोला गया विहार। १000) रु०

६—श्री सेठ विश्वनाथ जी डालमिया धामिन टोला गया विहार। ५00) रु०

७—श्री रामप्रिया शरण वेदान्ताचार्य एम० ए० लक्ष्मणकिला अयोध्या। ५००) रु०

८—पं० गुरुचरण मिश्र शंकरपुर ठकुराई परसियां नासिरीगंज रोहतास विहार। १०१) रु०

हिन्दी श्रीभाष्य योजना समिति से प्राप्य पुस्तकें:—

१–हिन्दी श्रीभाष्य प्रथम भाग	४–००
२–हिन्दी श्री भाष्य द्वितीय भाग	४–००
३–हिन्दी श्री भाष्य तृतीय भाग	४–००
४–हिन्दी श्री भाष्य चतुर्थ खण्ड	४–००
५–हिन्दी श्री भाष्य पञ्चम खण्ड	३–००
६–हिन्दी श्री भाष्य षष्ठ भाग	४–००
७ हिन्दी श्री भाष्य सप्तम भाग	४–००
८–हिन्दी श्री भाष्य अष्ठम भाग	४–००
९–हिन्दी श्रो भाष्य नवम भाग	४–००

—:—

—: पुस्तक प्राप्ति स्थान :—

१:—हिन्दी श्रीभाष्य प्रकाशन योजना समिति
श्याम सदन, मु०–कटरा, पो०–अयोध्या, जि०–फैजाबाद (उ०प्र०)

२:—जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र
स्वामी रामनारायणाचार्यजी महाराज
श्री कोसलेश सदन कटरा, पो०-अयोध्या, जि०-फैजाबाद (उ०प्र०)

३–श्री स्वामी वीर राघवाचार्य शास्त्री
पुरानी यज्ञवेदी, पूर्व फाटक (उत्तर स्थान) पो०–अयोध्या
जि०–फैजाबाद (उ० प्र०)
पि० नं० २२४१२३

मुद्रक :—श्याम मुद्रणालय, श्याम सदन कटरा अयोध्या ।